बुद्ध और बौद्ध साधक

भगवान् बुद्ध और उनके कतिपय शिष्य-शिष्याओं की जीवन-स्मृतियाँ

●

लेखक

भरतसिंह उपाध्याय

●

१९५०

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्त्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रैस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

निवेदन

भगवान् बुद्ध और उनके कुछ शिष्य-शिष्याओं की जीवन-स्मृतियाँ इन पृष्ठो में अङ्कित हैं। पहले तीन अध्यायों मे सामान्यतः भगवान् बुद्ध की जीवन-विधि का वर्णन है। बाद के अध्यायों में चार भिक्षु, एक उपासक (गृहस्थ-शिष्य), तीन भिक्षुणियाँ और एक उपासिका, इस प्रकार नौ साधक-साधिकाओ के जीवन-चित्र उपस्थित किये गए हैं। इस प्रकार कुल १२ अध्याओ मे बौद्ध जीवन-विधि के प्रतिनिधि रूप को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। वर्णन 'वाद' और सिद्धान्तों मे मुक्त रहे, ऐसी लेखक की चेष्टा रही है।

भगवान् बुद्ध के विषय मे यद्यपि आज हमारी उदासीनता कुछ कम हुई है, किन्तु पूर्वकालीन बौद्ध साधक और साधिकाएँ तो अब भी भारतीय साधना के उपेक्षितों में से ही हैं। ये वे आध्यात्मिक स्रोत हैं जो अभी हमारे लिए अज्ञात हैं। हम यह अनुभव नहीं करते कि यही वे आधार हैं जिन पर शास्ता ने अपने शासन की नीव रक्खी थी। शाक्य गोतम ने उरुवेला की भूमि में जिस ज्ञान का साक्षात्कार किया, वह उनके साधनाशील शिष्यो के माध्यम से ही समाज की शिराओं मे व्याप्त होकर उस चिर सुन्दर आलोक के रूप मे फूट पड़ा, जिसे हम बौद्ध संस्कृति के सामूहिक नाम से पुकारते हैं। इस संस्कृति से एक बार समग्र भारतीय जीवन आलोकित हो उठा और उसकी अभिव्यक्ति बाद मे साहित्य, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकारी आदि के रूप में न केवल भारत के ही, अपितु विश्व के एक विशाल भूखण्ड के निवासियों की सत्त्वशुद्धि और विकास के लिए हुई। उससे हमें अपनी मूलभूत समस्याओ के आज भी हल मिल सकते हैं, इसमे संदेह नहीं।

कहा गया है कि बहुतो के हित के लिए ही तथागत का आविर्भाव होता है। "बहूनं वत अत्थाय उप्पज्जन्ति तथागता।" बहुतो का, सब का, हित क्या है, इसके लिए आज हमारी भी खोज चल रही है। इस सम्बन्ध मे हमे देखना चाहिए कि तथागत की क्या दृष्टि रही। फिर ऐसा भी लगता है कि तथागत के शिष्यो के रूप मे हम स्वयं ही रहे थे। यह अति-भावुकता नहीं कही जा सकती। सारिपुत्र, आनन्द और महाकाश्यप हमारे ही ढाई हजार वर्ष पूर्व के जन्मो के नाम हैं। हमे कम-से-कम अपने आप को तो पहचानना ही चाहिए।

यद्यपि सिद्धान्त-स्थापन की दृष्टि इन जीवनियों मे नही है, परन्तु इतना तो माना ही जा सकता है कि भगवान् बुद्ध आर्य धर्म के एक महान् संशोधक थे। प्राचीन वैदिक साहित्य में मानवता के परिपूर्णता-विधायक जिन आदर्शों की स्थापना हुई है, उनका पूर्ण विकास हमे तथागत के जीवन मे मिलता है। भगवान् ने स्वयं कहा भी था, "भिक्षुओ, इस लोक मे तथागत ही अकेले आर्य हैं।" तथागत और उनके शिष्यो ने कहाँ तक आर्य जीवन-मार्ग को परिपूर्णता प्रदान की, पाठक इन पृष्ठों मे देखेंगे।

प्रस्तुत जीवनियो के उपादान पालि-तिपिटक और उसकी अट्ठकथाएँ हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादो तथा पालि 'डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स' से लेखक को काफी सहायता मिली है। वह इन सबका हृदय से कृतज्ञ है।

भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था, "जिस समय आर्य साधक बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति करता है, उस समय उसके चित्त मे राग पैदा नहीं होता, द्वेष पैदा नहीं होता, मोह पैदा नहीं होता; बल्कि ऋजु, पवित्र मार्ग पर ही लगा हुआ उसका चित्त होता है।" यदि क्षण भर के लिए भी हमारी यह अवस्था साधित हो जाय तो हम सब ने बहुत कुछ कर लिया। राग, द्वेष और मोह से संकुल इस लोक को समता, प्रीति

और मैत्री-पूर्ण चित्त से भर देना, आच्छादित कर देना, भीरी
नकृत्यता है । इसके लिए श्रद्धा मिले, बल मिले, इसलिएये
अनुस्मृतियाँ हैं ।

जैन कालेज
बडौत

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

बुद्ध और बौद्ध साधक

: १ :

बुद्ध के स्वभाव व जीवन की विशेषताएँ

भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की महत्ता को पूरी तरह जानना दुष्कर है! मानवीय बुद्धि उसे तौलना चाहती है; किन्तु उसके प्रयत्न मे स्वयं तुल जाती है। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने उसे एक बार बड़े उदार शब्दो मे तौलना चाहा (महापरिनिब्बाण-सुत्त), किन्तु शास्ता के हाथो वे स्वयं तौले गये! वास्तव मे बुद्ध-शासन व्यक्ति-प्रधान है ही नहीं। वह विचार-प्रधान है। व्यक्तिगतरूप से गोतम भी एक मनुष्य मात्र हैं। किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध होने के नाते वे विशुद्ध अनुभूति स्वरूप ही हैं; यही उनके जीवन का लोकोत्तर स्वरूप है। प्रकृत स्वभाव-अध्ययन तो हम द्वन्द्व-परिप्लुत मानवो का भी नही कर सकते, फिर उस महापुरुष के विषय में तो क्या कहना जो सभी बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्वो की पहुंच से बाहर हो चुका था, सभी मानवीय असंगतियों का अतिक्रमण कर चुका था और जिसके लिये सुख-दुख-रूपी वेदनाओं का अनुभव करना ही बाकी नही बचा था! अतः बुद्ध के चित्त की अवस्था को आज तक किसी ने झाँककर नही देखा। फिर भी चूंकि वह महापुरुष मनुष्यता और ज्ञान के एक नये युग का प्रवर्तक था और हम ज्ञान-संवेदन-शील मनुष्य हैं, अतः उसके पद-चिह्नो की कुछ खोज किये बिना हम नही रह सकते।

भगवान् बुद्ध ने बोधिसत्व होने की अवस्था मे, अर्थात् जिस समय वे सम्यक् ज्ञान की खोज कर ही रहे थे, मनुष्य-जीवन के उन

सब आरोह-अवरोहो, विचिकित्साओं, भयों और विषमताओं को अनुभव किया था जो एक सत्य-गवेषक को कभी भी अनुभव करनी पड़ती हैं। उनके इस जीवन मे मनुष्योचित विशेषताओं के साथ-साथ हम उन सब साधनाओं की चरम अभिव्यक्ति देखते हैं जो प्राग्बौद्ध-कालीन भारत मे प्रचलित थी। महाभिनिष्क्रमण-काल से लेकर उरुवेला की लोमहर्षक तपस्या तक के गोतम के जीवन मे पूर्ववर्ती वैदिक और उत्तर वैदिक-कालीन साधनाओ का सारा इतिहास ही सन्निहित है, ऐसा हम कह सकते हैं। इसका क्रमिक वर्णन भी बड़ा लाभप्रद हो सकता है; किन्तु हम यहाँ गोतम के बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद के जीवन को लक्ष्य कर ही कुछ कहेंगे।

भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी स्व-निरपेक्षता, उनके द्वारा 'अहं' का सम्पूर्ण विसर्जन और उनकी निःसङ्गता। 'गोतम बुद्ध' नाम का व्यवहार आज हम करते हैं; किन्तु यह केवल पहचान के लिये है। वास्तव में 'बुद्ध' के बाद 'गोतम' का अस्तित्व ही नही रह गया। ज्ञाता मिटकर स्वयं ज्ञान हो गया। विशुद्ध बोध ही 'बुद्ध' के रूप मे मूर्तिमान् हो उठा। बेचारा शुद्धोदन इस तत्व को नहीं समझ सका। इसलिए उसे अपने पुत्र का कपिलवस्तु की गलियों मे भिक्षापात्र लेकर निकलना अच्छा नही लगा। लेकिन जब उसे पता लगा कि मेरा पुत्र अब गोतम-वंश मे नहीं, बल्कि बुद्ध-वंश मे उत्पन्न हुआ है तो उसकी आँखें खुलीं। वह और उसके बाद उसकी पत्नी, जिन्होंने गोतम को गोद में खिलाया था, बुद्ध की शरण गए। बुद्ध की शरण जाना किसी व्यक्ति की शरण जाना नही था। वह विशुद्ध अनुभूति की महत्ता का स्वीकरण मात्र था सम्पूर्ण गोतम-परिवार के प्रति अब बुद्ध का एक नवीन दृष्टिकोण था। गोपा' अब गोतम की प्रिय पत्नी नहीं थी। वह बुद्ध की असीम करुणा की पात्र साधिका थी। राहुल अब शाक्यराज का उत्तराधिकारी नहीं था। वह बुद्ध के उस अतुलनीय धर्मराज्य का अधिकारी

था जिसमें उसका प्रवेश कराने के लिये सारिपुत्र को प्रेरित करते हुए भगवान् ने कहा था, "सारिपुत्र! राहुल के केश काटकर इसे काषाय वस्त्र दो और भिक्षु पद में प्रतिष्ठित करो।" इतनी निर्ममता के साथ संसार के किसी महापुरुष ने अपने एकमात्र औरस पुत्र को बेघरबार की अवस्था मे दीक्षित किया हो, ऐसा उल्लेख उसके इतिहास मे नहीं है। अनासक्त भाव की चरम सीमा हमें बुद्ध-जीवन में मिलती है।

अपनेपन की भावना से तथागत ने अपने किसी कार्य को अनुरंजित नहीं होने दिया। वस्तुगत सत्य ही उनके लिये सब कुछ था, अपने व्यक्तित्व के भार से उसे बोझिल बनाने की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। इसीलिए उपदेश देते समय वह अक्सर कहा करते थे, "चाहे तथागत उत्पन्न हों, चाहे तथागत उत्पन्न न हो, किन्तु यह जो पदार्थों का नियम के अन्दर अवस्थित रहना है, वह तो ठहरेगा ही" (उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता)। इसी प्रकार कालाम नामक क्षत्रियो के प्रति दिये हुए अपने प्रसिद्ध उपदेश मे भगवान् ने व्यक्ति-निरपेक्षभाव से ही सत्य को खोजने का मार्ग दिखाया था। इस भाव की चरम अभिव्यक्ति तो हम उनके जीवन के अन्तिम अंश में ही देखते हैं। भगवान् शरीर छोडनेवाले हैं। उनके अनुरक्त शिष्य आनन्द चिन्ता से उनसे पूछते हैं, "भन्ते! तथागत के शरीर का (दाह-संस्कार) हम कैसे करेंगे?" भगवान् का यही भावुकतारहित उत्तर होता, "आनन्द! तथागत की शरीर-पूजाकर तुम अपने आपको बाधा मे मत डालो। तुम तो अपने लिये सच्चे पदार्थ की ही खोज मे लगो। सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्नशील बनो। अपने आपको ही शरण बनाओ। अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे की शरण मत जाओ।" इसी प्रकार आनन्द जब भगवान् से भिक्षु-संघ के लिये अन्तिम शब्द कहने के लिये प्रार्थना करते हैं तो कृपालु शास्ता का यही अनासक्त उत्तर होता

है, "आनन्द ! भिक्षु-संघ मुझ से क्या चाहता है ? जिसको ऐसा भान हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ अथवा कि भिक्षु-संघ मेरे उद्देश्य से है, वह अवश्य भिक्षु-संघ के लिये कुछ कहे। आनन्द ! तथागत को कभी ऐसा नहीं हुआ कि भिक्षु-संघ को मैं धारण करता हूँ अथवा कि भिक्षु-संघ मेरे उद्देश्य से है । आनन्द ! तथागत भिक्षु-संघ के लिये क्या कहेंगे ?" इतनी अनासक्ति के साथ संसार के किसी धर्म-संस्थापक ने अपने द्वारा स्थापित सघ को छोड़ा हो, ऐसा हम नहीं कह सकते। आसक्ति की सूक्ष्म गन्ध तक भी हम बुद्ध-जीवन में कहीं नहीं पाते। यही कारण है कि अपने बाद संघ का संचालन करने के लिये उन्होंने जान-बूझकर किसी व्यक्ति को उसका नायक तक नहीं चुना। अमूर्त धर्म की देखरेख में ही उन्होंने संघ को छोड़ा। व्यक्तित्व की इतनी उपेक्षा की, धर्म के इतने बड़े शासन की, दुनिया के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं है।

ऊपर बुद्ध के अनासक्त भाव और निःसङ्गता का किंचित् निदर्शन किया गया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि वे लोक-बाह्य आदर्श के पक्षपाती, मानवीय भावनाओं से रहित और नितान्त निवृत्ति-परायण महात्मा थे, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। भगवान् बुद्ध देव थे, देवातिदेव थे, किन्तु देवतावत् पाषाण नहीं। वे बुद्ध होने के साथ-साथ परम अनुकम्पक शास्ता भी थे। मनुष्यता क्या चीज है, इसके लिये उनका जीवन पदार्थ-पाठ है। पूर्ण अनासक्त होते हुए भी भगवान् बुद्ध ने संघ की स्थापना की, प्रत्येक साधक-साधिकाओं के जीवन की अलग-अलग चिन्ता की और अपने स्वभाव की मृदुता से लोक-जीवन पर वह अमिट प्रभाव डाला जो आज भी बना हुआ है। बड़े-बड़े कामों की अपेक्षा अधिकतर छोटी-छोटी बातों में ही मनुष्य का स्वभाव अधिक प्रतिबिम्बित होता है। दूर से आये हुए भिक्षुओं से भगवान् सर्व प्रथम पूछते थे, "कहो [illegible] ! कुशलता से तो हो ? रास्ते में कोई हैरानी तो नहीं हुई ?

भिक्षा मिलने मे दिक्कत तो नहीं हुई ?" फिर कुछ इस प्रकार वार्तालाप चलता था, "भिक्षु ! तुम्हारी आयु क्या है ?" "भन्ते ! मेरी आयु एक वर्ष की है।"* "भिक्षु ! तुमने इतनी देर क्यो की ?" "भन्ते ! बहुत देर के बाद मै सांसारिक भोगो के दोषो को समझ सका।" भिक्षुओं के प्रति भगवान् की बडी वत्सलता थी। जो महापुरुष अजातशत्रु जैसे पितृवधक और अम्बपाली, अभयमाता, विमला जैसी पाप-चारिणी स्त्रियो के प्रति भी अपूर्व करुणा और सान्त्वना का परिचय दे सकता था, वह अपने शिष्यों के प्रति पुत्र का-सा व्यवहार क्यों न करता ? अनेक बार हम उन्हें रोगी भिक्षुओ की सेवा-शुश्रूषा करते देखते है। आनन्द के साथ एक रोगी भिक्षु की सेवा करने का प्रकरण तो अति प्रसिद्ध ही है। एक बार घर से अपमानपूर्वक निकाला हुआ व्यक्ति (पन्थक) भगवान् के निवास की ओर आ निकला। विहार के दरवाजे पर बैठा हुआ वह रो रहा था। "भगवान् वहाँ आये। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रक्खा और मुझे बांहो से पकडकर विहार के अन्दर ले गए। अनुकम्पा-पूर्वक शास्ता ने मुझे पैर पोछने के लिए अँगोछा दिया।"† इसी प्रकार परिवार-वियोग के शोक से विक्षिप्त-मानसा पटाचारा को "भगिनी ! अपनी चेतना को संभाल—" इस प्रकार आश्वासन देते हुए भगवान् ने अपने आश्रय में लिया था। भगवान् के शरीर छोडने के कुछ क्षणों पूर्व ही सुभद्र नामक परि-

---

* भिक्षुओं की आयु उनके भिक्षु-पद के सस्कार के समय से गिनी जाती थी, जन्म-काल से नही !

† भगवा तत्थ आगच्छि सीस मय्हं परामसि।
बाहाय म गहेत्वान सघारामं पवेसयि।
अनुकम्पाय मे सत्था पादासि पादपुछनिं॥

थेरगाथा, गाथाएँ ५५६—६० (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित सस्करण)।

-व्राजक भगवान् के दर्शनों के लिये आया था। विचारवान् आनन्द ने उसे यह समझाकर भगवान् से मिलने से रोक दिया था कि इससे तथागत को तकलीफ होगी। "मित्र सुभद्र! तथागत को कष्ट मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" भगवान् ने आनन्द की बात सुन ली। तुरन्त आनन्द को आज्ञा दी, "आनन्द! सुभद्र को मना मत करो। सुभद्र को तथागत के दर्शन पाने दो। सुभद्र परम ज्ञान की इच्छा से ही मुझे पूछने आया है। मुझे तकलीफ देने की उसकी इच्छा नही है।" आनन्द ने सुभद्र परिव्राजक को विज्ञापित किया, "जाओ मित्र सुभद्र! भगवान् तुम्हें मिलने की आज्ञा देते हैं।" परिव्राजक ने भगवान् की उस दशा मे भी उनसे उपदेश ग्रहण किया। शास्ता के लिये उपदेश देने का कोई असमय नहीं था, यदि वे जानते कि इससे दूसरे को लाभ होगा। शिष्यो के समान ही उनको अपनी शिष्याओ पर भी अनुकम्पा थी। वे स्त्रियो की सामर्थ्य और ज्ञान के बडे प्रशंसक थे। उनकी शिष्याओ मे से अनेक पुरुषो तक को उपदेश देती थीं। धम्मदिन्ना और विशाख का संवाद इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण है। इसके अतिरिक्त शुभा, सुमेधा, रोहिणी, शैला, सोमा, पटाचारा और महाप्रजापती गोतमी आदि अनेक भिक्षुणी महिलाएं तो उपदेश और जन-सेवा आदि का कार्य करती हुई विहरती थीं। तथागत के सभी शिष्य-शिष्याओ की अपने शास्ता मे अपरिमित भक्ति और श्रद्धा थी। भगवान् के शरीर छोडने के समय हम देखते हैं कि उनका कोई शिष्य बांह पकड कर रो रहा है, कोई कटे वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर रहा है, कोई धरती पर लोट रहा है। आनन्द तो विहार के भीतर जाकर खूंटी पकडे रो रहे हैं। कुछ ऐसे भी वीतराग भिक्षु हैं जो स्मृति-सम्प्रजन्य-पूर्वक दुःख को सह रहे हैं। परन्तु शिष्यो पर पुत्रो का-सा प्रेम करने वाले तथागत का उनके प्रति यही आश्वासनकारी वचन होता है, "भिक्षुओ! क्या मैंने तुमसे पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों

से वियोग होता है। जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब नाश होने वाला है। हाय ! वह नाश न हो, यह सम्भव नहीं।" इस समय भी भगवान् की इच्छा भिक्षुओं (और उनके निमित्त से भविष्य की जनता) के कल्याण की ही है, अपने अमरत्व साधन की नहीं। "इसलिए भिक्षुओ ! मैने जो धर्म उपदेश किया है, तुम अच्छी प्रकार उसे सीखकर उसका सेवन करना, भावना करना, बढाना। शायद तुमको ऐसा हो कि हमारे शास्ता तो चले गए, अब हमारे शास्ता नहीं है। ऐसा मत समझना। मैने धर्म और विनय के जो उपदेश दिए है, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता होगे।" धर्म सेनापति सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के परिनिर्वाण के अवसर पर भगवान् ने उनके विषय में जो उद्गार प्रकट किये उनसे मालूम होता है कि वे अपने शिष्यो मे कितनी अनुरक्ति रखते थे, किन्तु फिर भी उनकी मृत्यु पर "तथागत को शोक-परिदेव नहीं है।" यही पूर्ण मनुष्यता है। भगवान् के कोमल स्वभाव का एक उदाहरण और। चुन्द नामक लुहार के यहाँ भगवान् ने अन्तिम भोजन किया। उसके बाद उन्हें दस्त लग गए और फिर कही भोजन नही किया। शरीर छोडने से पूर्व भगवान् को यह आशङ्का हुई कि कही चुन्द लुहार इस बात को विचार कर अपने चित्त में दुःख न माने कि मेरे यहां भोजन कर तथागत ने शरीर छोडा। इसलिए भगवान् शरीर छोड़ने से पूर्व यत्नपूर्वक आनन्द को समझा जाते हैं, "आनन्द ! चुन्द लुहार की इस चिन्ता को तू दूर करना और कहना—'मित्र ! लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया, जो तेरे भोजन को खाकर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।" भिक्षुओ का भगवान् को इतना ध्यान रहता था कि भोजन से पूर्व अनेक बार हम उन्हे अपने उन भिक्षुओ के बारे में जो भोजन के समय उपस्थित नही हो सके, पूछताछ करते देखते हैं और जबतक वे नही आ जाते, भोजन आरम्भ नहीं किया जाता। इससे मालूम होता है कि भगवान् बुद्ध व्यवस्था सम्बन्धी छोटी-छोटी बातो मे भी कितने सतर्क रहते थे।

विचार और कार्यव्यस्त जीवन मे विरोध नहीं है, परन्तु यदि विशेषता की दृष्टि से देखा जाय तो बुद्ध-जीवन विचार-प्रधान था, कार्य-प्रधान नहीं। प्रज्ञा उनके जीवन की मुख्य विशेषता थी, कर्म उसकी साधनावस्था मात्र था। यही कारण था कि सम्बोधि प्राप्त करने पर भगवान् को उपदेश देने की इच्छा नहीं हुई। वासना के क्षय का यह स्वाभाविक परिणाम था। सप्ताहो तक विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते ही बैठे रहे। बुद्ध-नेत्रो से देखा कि संसार दुःखी है। प्राणी दुःख-विह्वल हो छटपटा रहे हैं। दुःख से निःसरण का मार्ग नही जानते। ज्ञानी ने शास्ता बनना स्वीकार कर लिया। ब्रह्मविद् महात्मा क्रियावान् हो गया। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।' यह उपनिषद् की वाणी बुद्ध के रूप मे सफलीभूत हो उठी। बाद के पैतालीस वर्ष अहर्निश लोककल्याण के चिन्तन और उसके अनुकूल कार्य करने मे ही बीते। खाने, पीने, सोने आदि के समय को छोडकर शास्ता का धर्मोपदेश सदा अखण्ड ही चलता रहा। पर इतने समय के अन्दर एक बार भी तथागत के अन्दर 'अहं' का भाव पैदा नही हुआ। केवल करुणा, परदुःख-कातरता, ही तथागत के इन कार्यों को प्रेरक बल देती रही। निरन्तर कार्यव्यस्त जीवन बुद्धत्व-ज्ञान को कलुषित नहीं कर सका। इसका साक्ष्य देते हुए भगवान् ने स्वयं कहा है, "भिक्षुओ! जिस चित्त-अवस्था से मैंने प्रथम वार अभिसम्बुद्ध होते समय विहार किया, चित्त की उसी विशेष अवस्था से मैं अपने शेष जीवन मे भी विहरता रहा।"* इसी का साक्ष्य देते हुए उदायी स्थविर ने भी भगवान् के विषय में कहा है, "चलते हुए भी भगवान् समाधि मे स्थित हैं, ठहरे हुए भी भगवान् समाधि मे स्थित हैं, सोते हुए भी भगवान् समाधि में स्थित हैं, बैठे हुए भी भगवान् समाधि मे स्थित है। सभी जगह भगवान् समाधि में स्थित हैं,

---

* "येन स्वाहं भिक्खवे विहारेन पठमाभिसम्बुद्धो विहरामि, तस्स पदेसेन विहासिं" (सयुत्त निकाय)

यही उनकी सम्पदा है।" थेरगाथा(६९६-९७)। महाकाश्यप ने भी इसी का साक्ष्य देते हुए कहा है, "सदा चरति निब्बुतो" अर्थात् महाज्ञानी बुद्ध सदा निर्वाण प्राप्ति की अवस्था में ही विहरते हैं। इसे ही हम गौतम का 'बुद्धत्व' कहते हैं।

भगवान् बुद्ध के विषय मे कहा गया है कि उनका कोई ऐसा छिपा हुआ कायिक या मानसिक कर्म नही था जिसके लिये उन्हें चित्त का सन्ताप उठाना पड़े या दूसरों के सामने लज्जित होना पड़े। उनका बाहर भीतर एक था। जिन नियमों का उन्होंने उपदेश दिया उनका स्वयं पूरा पालन किया। फिर भी वे अपने को अति-मानुषी कोटि में नही रखना चाहते थे। उनमे बुद्धत्व की पूर्ण क्षमता थी, किन्तु साथ ही अपूर्व विनम्रता भी। संयुत्त-निकाय का एक प्रसंग इस सम्बन्ध मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक दिन भगवान् पूर्णमासी के दिन खुली जगह मे भिक्षुओं सहित बैठे हुए थे। सन्ध्या का समय था। भिक्षु लोग भविष्य के संयम के लिए अपने अपराधों की देशना (क्षमा-याचना) कर रहे थे। उसके बाद मे भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, "भिक्षुओ! यदि मेरे अन्दर कोई काया सम्बन्धी, वाणी सम्बन्धी या विचार-सम्बन्धी दोष देखते हो तो मुझे बतलाओ।" इसी प्रकार जब एक बार एक ब्राह्मण ने भगवान् से पूछा, "भन्ते! क्या आप दिन मे सोने की अनुमति देते है?" तो भगवान् ने अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक और स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया—"पिछले गर्मी के महीने में, एकबार भिक्षा से लौटने के बाद, भोजन करने के पश्चात् मुझे स्मरण आता है, सीधे करवट से, स्मृति को सामने रखकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक चौपेती लपेटी हुई चादर पर लेटते हुए अपना झपकी लगकर सो जाना।" अति-मानुषी शक्ति का भगवान् तथागत ने कभी दावा नही किया। उन्होंने मानवीय पुरुषार्थ की महिमा गाते हुए सदा यही कहा कि उसके द्वारा जो कुछ लभ्य है वही उन्होंने पाया है। इसीलिए अपने आपको अन्य सब मनुष्यों के

साथ रखकर ही वे कहा करते थे, "भिक्षुओ ! चार आर्य-सत्यों के अज्ञान के कारण ही इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह भटकना, संसरण, आवागमन हो रहा है।" मनुष्यता को जानने वाले डाक्टर ढालके ने ठीक ही कहा है—"यह उच्चतम है, इससे आगे कोई मनुष्य नहीं जा सकता।" (This is the highest, further can no man go.)

भगवान् बुद्ध के स्वभाव की एक विशेषता उनकी निःशब्द-प्रियता थी। तथागत एकांत मे अभिरमण करते थे। भिक्षुओं से भरा हुआ उनका आश्रम भी प्रशांत, गम्भीर सरोवर की तरह निःशब्द होता था। एक बार राजा अजातशत्रु जीवक के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया था। कुछ रात हो गई थी। आश्रम निकट था, किन्तु चारो ओर सन्नाटा छा रहा था। राजनीति के वातावरण मे पला हुआ अजातशत्रु शंकित हो उठा। कहीं जीवक उसके साथ छल तो नहीं कर रहा है ? "आर्य जीवक ! मेरे साथ धोखा तो नही कर रहे ? यह कैसे सम्भव है कि जहां १२५० भिक्षुओ का विशाल जन-समुदाय हो वहां एक भी खांसने या छींकने का शब्द सुनाई न दे ?" अजातशत्रु डर रहा था कि कही जीवक उसे शत्रु के हाथ में समर्पित करने तो नही जा रहा है ! जीवक ने विश्वास दिलाते हुए कहा, "राजन् ! सीधे चले आइए। डरिए नहीं। वह देखिए, आस्थान-मंडप मे दीपक जल रहे हैं और पूर्व की ओर मुख किए भगवान् बैठे हुए हैं। उनके चारो ओर भिक्षुगण बैठे हैं।" शान्ति और सफाई बौद्ध विहारों की दो प्रधान विशेषताएँ थीं।

राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये एकांतवास को भगवान् आवश्यक साधन मानते थे। सब दोषों से पूर्ण विमुक्त होकर भी वे एकांतवास करते थे। किस कारण ? इसे व्यक्त करते हुए उन्होने जानुश्रोणि नामक ब्राह्मण से कहा है, "ब्राह्मण ! शायद तेरे मन में ऐसा हो—'आज भी श्रमण गोतम का राग नष्ट नहीं हुआ, द्वेष नष्ट नहीं हुआ, मोह नष्ट

नहीं हुआ, इसीलिए वह अरण्य, वनखंड और सूनी कुटिया का सेवन करता है।' ब्राह्मण ! इसे इस प्रकार नहीं जानना चाहिए। ब्राह्मण ! दो बातों के लिये मे अरण्य सेवन करता हूं : इसी दृश्यमान शरीर के सुख-विहार के लिये और आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा के लिये, जिससे मेरा अनुसरण कर वह सुफल की भागी बने।"

भगवान् बुद्ध निन्दा और स्तुति दोनो से परे थे। एक बार सुनक्षत्र नामक लिच्छवि सरदार भिक्षु-संघ मे प्रविष्ट होने के बाद उसे छोडकर चला गया और बुद्ध के विषय मे प्रवाद फैलाने लगा कि इनका धर्म तो केवल इनकी बुद्धि की उपज है और ऐन्द्रिय अनुभूति से आगे गोतम का ज्ञान नही जाता। जब यह बात सारिपुत्र ने शास्ता को सुनाई तो उन्होने कहा, "वह नासमझ मनुष्य क्रोध के वश में हो गया है। क्रोध के कारण ही उसने ऐसा कहा है।" एक बार एक ब्राह्मण ने भगवान् को 'चोर' और 'गधा' तक कह दिया, किन्तु भगवान् ने उसे शान्तिपूर्वक सुनते हुए यही कहा, "गाली देनेवाले को जो लौटकर गाली नहीं देता वह दुहरी विजय प्राप्त करता है।" भगवान् के श्वसुर ने जब उन्हें अपनी वैराग्य-वृत्ति के लिये कपिलवस्तु मे गालियाँ सुनाईं तो बदले मे उनके मुख से केवल मन्द मुस्कान ही वे निकाल सके। सम्भवतः बुद्ध का यह प्रथम बार स्मित प्रकट करना था। कुछ लोगों ने गोतम को 'वृषल' तक कहा, उन पर व्यभिचार के आरोप तक लगाये, दूसरो ने उन्हें 'भगवान्' 'महर्षि' 'देवातिदेव' कहकर पूजा, किन्तु भगवान् दोनों ही हालतो मे पूर्ण अनासक्त रहे। अपने शिष्यों के लिये उनका कहना था, "भिक्षुओ ! यदि दूसरे लोग तुम्हारी निन्दा करें तो न तो तुम्हे इस कारण उनसे क्रोध और द्वेष ही करना चाहिए और न अपने हृदय मे जलन ही अनुभव करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दूसरे लोग तुम्हारी प्रशंसा करें तो तुम्हें इस कारण प्रसन्न भी नहीं होना चाहिए।" कोशलराज प्रसेनजित् भगवान् के शरीर के प्रति अत्यन्त गौरव प्रदर्शित करता था, सिर से भगवान् के

पैरो मे गिरता था, भगवान् के पैरो को मुख से चूमता था, हाथ से पैरो को दबाता था और अपना परिचय देते हुए कहता था, "भन्ते ! मैं राजा प्रसेनजित कौशल हूं।" किन्तु उसके आदरो को देखकर भगवान् को केवल यही होता था, "जो पहले ही त्याग दिया गया है, उसी के विषय मे यह सब हो रहा है।"

भगवान् बुद्ध का जीवन सादगी का नमूना था। दिन मे केवल एक बार भोजन करते थे। बुद्धत्व प्राप्ति के बीस वर्ष तक उन्होने किसी गृहस्थ का दिया हुआ वस्त्र तक नही पहना। बोधिराजकुमार ने एक बार उनको अपने यहां निमन्त्रित किया और उनके स्वागतार्थ मार्ग मे पाँवडे बिछा दिये गए। विनम्र शास्ता ने उन पर चलना स्वीकार नही किया। उनके अभिप्राय को ज्ञापित करते हुए आनन्द ने राजकुमार से कहा, "राजकुमार ! चैल-पंक्ति को हटा लो। तथागत इस पर नही चलेंगे। तथागत भविष्य की जनता का विचार कर रहे हैं।" भगवान् भविष्य की जनता के लिये सादगी का आदर्श छोडना चाहते थे। जीवन के साधन (निःश्रय) जितने अल्प हो, उतने ही उन्हें अधिक पसंद थे। "अल्प, सुलभ, निर्दोष" वस्त्र-भोजनादि के विषय मे यही उनका नियम था। खुली जगह मे रहना उन्हें अधिक पसन्द था। अधिक रात तक वे प्रायः बाहर बैठे रहते थे। एक बार शिशपा वन मे हम उन्हें विहरते हुए देखते हैं। कडी सर्दी है। बर्फ जम रही है। धरती जानवरो के खुरो से ऊंची-नीची हो रही है। भगवान् पत्तो के आसन पर बैठे हुए ध्यान मे लीन है। एक मनुष्य वहां जाकर उन्हें पूछता है, "भन्ते ! क्या आप सुख से है ? एक हलका वस्त्र आप पहने हुए हैं। पृथ्वी ऊंची-नीची है। पत्तियो का आसन भी पतला है। जाडे की कडी हवा चल रही है।" भगवान् ने उत्तर दिया, "हां, मैं सुख से रहता हूं। संसार में जो सुख से रहने वाले मनुष्य है, उनमें से मैं एक हूं।"

भगवान् बुद्ध का उपदेश देने का ढङ्ग भी ध्यान देने योग्य है।

अक्सर उनका उपदेश संवादों के रूप मे होता था। उनका प्रकृति-दर्शन बड़ा सूक्ष्म था। बीच-बीच मे वे बड़ी मार्मिक उपमाएँ देते जाते थे। अपने विरोधी की स्थिति की परीक्षा करते-करते वे उस सिद्धान्त तक पहुंचते थे जिसे वे सिखाना चाहते थे। न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति दिया हुआ उनका उपदेश इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है। उस समय भारत में ऐसे-ऐसे प्रतिवादि-भयङ्कर तार्किक मौजूद थे जो यहां तक कहने की धृष्टता करते थे, "यदि मै अचेतन स्तम्भ से शास्त्रार्थ करूँ तो वह भी मेरे वाद से कम्पित हो जायगा, मनुष्य का तो कहना ही क्या ?" ऐसे साधनाविहीन मनुष्य जो कोरे तार्किक थे तथागत की दृष्टि मे 'मोघ पुरुष' (बेकार के आदमी) थे। भगवान् बुद्ध के विषय मे कहा गया है कि उपदेश देते समय उनका वर्ण स्वर्ण के समान चमकता था और सिंह के समान उनका गम्भीर नाद होता था। दूसरे मतो के माननेवालों के साथ उनका सहानुभूति का व्यवहार था। उरुवेला काश्यप के, जिसे सारा अङ्ग और मगध देश पूजता था, सम्मान का भगवान् ने बड़ा ध्यान रक्खा। उन्हें अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की अपेक्षा नहीं थी। सिंह सेनापति से उन्होने कहा कि बुद्ध-मत मे दीक्षित होने के बाद भी उसे अपने पूर्व आचार्यों की सेवा करनी चाहिए और पहले की तरह ही उन्हें दान-मान से सत्कृत करना चाहिए। अपने अनेक शिष्यो से भगवान् ने ऐसे ही कहा। तथागत ने किसी सम्प्रदाय की निन्दा नही की। विवाद करना वे सत्य-गवेषणा का लक्षण नहीं मानते थे। उनका मार्ग मैत्री और करुणा का ही था।

भगवान् बुद्ध जीवन मे तो महान् थे ही, मृत्यु मे वे उससे भी महान् थे। वास्तव मे तथागत की मृत्यु नहीं हुई। यदि बुद्ध का मरण होता तो बुद्ध-शासन का कोई अर्थ ही नहीं होता, वह बेकार की चीज़ होती। भगवान् बुद्ध ने जन्म, जरा, मरण से विमुक्ति सिखाई। क्या उन्होंने स्वयं उसे प्राप्त किया ? उनका दूसरा जन्म हुआ या नहीं, यह तो हम नही कह सकते। यह तो विश्वास की ही चीज़ है; किन्तु क्या उन्होने

जरा, मरण से विमुक्ति पाई ? अवश्य। बाहर देखने के लिये उनके शरीर मे जरा और मरण के लक्षण प्रकट हुए। उनके रोग भी उत्पन्न हुआ, सख्त पीडा भी हुई; परन्तु तथागत को इनका संवेदन नहीं हुआ। 'अहंता' के पूर्णतया निरुद्ध हो जाने से, मन और इन्द्रियो के सम्पूर्ण संयम से, शरीर के विकार तथागत के चित्त मे विकार पैदा नहीं कर सके। इसे ही हम विमुक्ति कहते हैं, जिसे तथागत ने शरीर रहते ही साक्षात्कार किया। उपनिषद् की भाषा मे शरीरी होते हुए भी तथागत 'अशरीरी' जैसे हो गए, अतः सुख-दुःख का उन्होंने स्पर्श नही किया। ज्ञानी ने जीवित अवस्था मे ही अभितः निर्वाण (परिनिर्वाण) का साक्षात्कार किया। कहा गया है कि दो अवसरों पर तथागत के शरीर का वर्ण अत्यन्त परिशुद्ध और उजला दिखाई देता है। एक समय जब कि वह सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं और दूसरे समय जब वह शरीर छोडते हैं। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के समय निर्वाण का ही साक्षात्कार होता है, देह का स्थूल बन्धन फिर भी कुछ रहता ही है। देह के छूट जाने पर वह बन्धन भी टूट जाता है और महापरिनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए भगवान् के शरीर छोडने को हम मृत्यु न कहकर 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं। इसीलिए बुद्ध का तेज इस समय सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय से भी अधिक होता है। इसी मे बुद्ध-शासन की सारी सार्थकता छिपी हुई है। शास्ता ने अक्लान्त भाव से सम्बोधि प्राप्ति के काल से भी अधिक प्रसन्न और शुभ्र शरीर की कान्ति के साथ काल किया। उनके अन्तिम शब्द थे, "अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य को सम्पादन करो।" बुद्ध के वंशधर यदि प्रमादी न हो गए होते तो इतनी बार इतिहास में उनके अस्तित्व की ही आशङ्का क्यों पैदा होती, जीवन के लक्ष्य के सम्पादन की तो बात ही कहां ?

: २ :

भगवान् बुद्ध 'तथागत' क्यों कहलाते हैं ?

'बुद्ध' के समान 'तथागत' भी भगवान् शाक्यमुनि का एक नाम है। वास्तव में ये नाम व्यक्ति के नहीं, पद के हैं, जिन्हें कोई भी उस अवस्था पर पहुँच कर प्राप्त कर सकता है। 'बुद्ध' या 'तथागत' नाम भगवान् ने अपने माता-पिता से प्राप्त नहीं किया, न ज्ञातिबन्धुओं से, न शक्रादि देवताओं की अनुकम्पा से, न मनुष्यों की सभाओं से। अपने ही परिश्रम से, संयम और तप से, इसे उन्होंने अर्जित किया। उनके ज्ञानी शिष्य धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने कहा भी है कि 'बुद्ध' यह नाम न तो देवी महामाया का दिया हुआ है, न महाराज शुद्धोदन का, न अस्सी हजार जाति-भाइयों का और न इन्द्रादि देवताओं का, बल्कि "यह तो बोधिवृक्ष के नीचे सर्वज्ञताज्ञान की प्राप्ति के साथ ही साक्षात्कार किया हुआ नाम है, जिसका आधार भगवान् की विमुक्ति ही है"—'विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्ञुतञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं बुद्धो' ति।'

भगवान् ने सत्य (चार आर्य सत्यों) का बोध प्राप्त किया, स्वयं बोध प्राप्त कर जनता को उस का बोध कराया, इसीलिए वे 'बुद्ध' हैं। भगवान् ने 'तथता' का साक्षात्कार किया, इसीलिए वे 'तथागत' हैं। दोनों ही पद परम ज्ञान की प्राप्ति के सूचक हैं। फिर भी भगवान् अपने लिये बोलते समय 'बुद्ध' शब्द के बजाय अक्सर 'तथागत' शब्द का ही प्रयोग किया करते थे। "आनन्द ! तथागत को धर्म में आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नहीं है।" "आनन्द ! तथागत की बोधि पर विश्वास

करते हो।" आदि उद्गार पढते-पढते मनुष्य थकता ही नहीं। यहाँ ऐसा लगता है कि कोई व्यक्ति बोल ही नही रहा, विशुद्ध ज्ञान ही बोल रहा है। 'बुद्ध' शब्द के साथ 'तथागत' शब्द को मिलाकर जब भगवान् बोलते हैं तब तो काव्यमयता और भी अधिक बढ जाती है—"भिक्षुओ! पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को दो संकल्प अधिकतर हुआ करते हैं—प्राणियो के हित का संकल्प और एकान्त ध्यान का संकल्प।" आदि। कभी-कभी साधारण वार्तालाप करते समय (वेदान्त की भाषा मे जिस समय उन्हें देहाध्यास उपस्थित रहता था) भगवान् अपने लिये 'मै' शब्द का भी प्रयोग करते थे, जैसे "आनन्द! मेरे लिये चौपेती सङ्घाटी बिछा दो। मै थक गया हूं, बैठूंगा।" आदि। बुद्धत्व-प्राप्ति से पहले की अवस्था का वर्णन करते हुए भी भगवान् अपने लिये 'मै' शब्द का प्रयोग करते थे। जहाँ कही अपने लिये 'तथागत' कहकर भगवान् ने प्रथम पुरुष मे धर्म-देशना की है, वहाँ निश्चय ही उनकी अविचल चित्त-विमुक्ति की सूचना मिलती है। ऐसे स्थल त्रिपिटक मे (विशेषतः सुत्त-पिटक मे) अनेक हैं और उन्हे पढते-पढते मनुष्य दिव्य आध्यात्मिक लोक मे पहुँचता है।

आचार्य बुद्धघोष ने विस्तार से उन कारणो का उल्लेख किया है जिनके कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं। दीघ-निकाय की अट्ठकथा 'सुमङ्गलविलासिनी' मे उन्होने इस विषय का विशद विवेचन किया है और अन्यत्र भी उसे दुहराया है।

आचार्य बुद्धघोष के मतानुसार निम्नलिखित आठ कारणो से भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं :

(१) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) आये (आगत) जिस प्रकार अन्य पूर्व के ज्ञानी पुरुष।

(२) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) गए (गत) जिस प्रकार अन्य पूर्व के ज्ञानी पुरुष।

(३) भगवान् बुद्ध 'तथा' (सत्य) के लक्षण से 'आगत',

समन्नागत, या युक्त हैं।

(४) भगवान् बुद्ध ने 'तथा धर्म' का ज्ञान प्राप्त किया है

(५) भगवान् बुद्ध ने 'तथा' का साक्षात्कार किया है।

(६) भगवान् बुद्ध 'तथा' का उपदेश करते हैं।

(७) भगवान् का आचरण 'तथा' है।

(८) भगवान् सबके ऊपर विजयी है।

इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है:

(१) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार आये जैसे अन्य ज्ञानी पुरुष, इसका अर्थ यह है कि भगवान् बुद्ध ने भी उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जिस प्रकार अन्य ज्ञानी पुरुषो ने, अर्थात् दान, शील, वैराग्य, दृढ निश्चय, मैत्री, क्षमा, वीर्य आदि दस पारमिताओ द्वारा, अनेक बार अपने शरीर के बलिदानो द्वारा, ध्यान-अभ्यास के द्वारा, ज्ञान के सात अङ्गों के अभ्यास के द्वारा, आदि । इसलिए अन्य ज्ञानी साधको ने जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान को प्राप्त किया उसी प्रकार (तथा) ज्ञान प्राप्त (आगत) करने के कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं।

(२) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार गए जिस प्रकार अन्य ज्ञानी पुरुष, इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने अपने जीवन मे वही मार्ग स्वीकार किया जो अन्य ज्ञानी पुरुषो ने। कौनसा वह जीवन-मार्ग है जिसे भगवान् बुद्ध ने उसी प्रकार स्वीकार किया, जैसे अन्य ज्ञानी पुरुषों ने ? वैराग्य के द्वारा कामनाओ का परित्याग, क्षमा के द्वारा क्रोध का परित्याग, मित्रता के द्वारा द्वेष का परित्याग, प्रेम के द्वारा घृणा का परित्याग, अप्रमाद के द्वारा प्रमाद का परित्याग, धर्म-विश्लेषण के द्वारा संशय का परित्याग, आदि। इस मार्ग पर भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) चले (गत) जैसे अन्य ज्ञानी पुरुष। अतः वे 'तथागत' कहलाते हैं।

(३) 'तथा' (सत्य) के लक्षण से युक्त होने के कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' हैं, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को जीवन और

जगत् का वैसा ही ज्ञान प्राप्त है, जैसा कि वह वास्तव में है

(४) भगवान् ने 'तथा धर्म' का ज्ञान प्राप्त किया है, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया है। चार आर्य-सत्य ही 'तथा धर्म' हैं।

(५) भगवान् ने 'तथा' का पूर्ण साक्षात्कार किया है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यो और देवताओं के लोक में जो कुछ भी जानने, देखने, सुनने और विचार करने योग्य है, वह सब भगवान् बुद्ध का जाना, देखा, सुना और विचारा हुआ है। उनसे दश-साहस्री-लोक-धातु में अविदित कुछ भी नहीं है।

(६) 'तथा' (सत्य) का भगवान् उपदेश करते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि सम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर महापरिनिर्वाण में प्रवेश करने के समय तक भगवान् जो कुछ कहते या उपदेश करते हैं वह सब तथा (वैसा ही—सत्य) होता है और काम, द्वेष, मोह को नष्ट करने वाला तथा ज्ञान और शान्ति को प्राप्त कराने वाला होता है।

(७) 'तथा' (सत्य) ही भगवान् का आचरण है, इसका तात्पर्य यह है कि जैसा भगवान् का उपदेश है, वैसा ही उनका आचरण है और जैसा उनका आचरण है, वैसा ही उनका उपदेश है।

(८) सबके ऊपर भगवान् विजयी हैं, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् लोक मे अग्र हैं, ज्येष्ठ हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब उन्हें और जन्म लेना नही है। अवीची नरक से लेकर ब्रह्मलोक तक सबको उन्होंने अपने सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के बल से जीत रक्खा है। वे देवो के भी देव, ब्रह्माओ के भी ब्रह्मा और इन्द्रो के भी इन्द्र हैं।

बुद्धघोष महास्थविर ने 'तथागत' शब्द की जो व्याख्या की है, वह कोरे निरुक्तिकार की व्याख्या नहीं है। वह उनकी कल्पना से भी प्रसूत नही है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध जब अपने लिये 'तथागत' शब्द का प्रयोग करते थे तो उपर्युक्त सब अर्थों

की अभिव्यक्ति उनके उस शब्द मे रहती थी, जिसे केवल एक व्यवस्थित रूप ही आचार्य बुद्धघोष ने दिया है। भगवान् का नीचे उद्धृत वचन इस तथ्य को प्रकाशित करेगा—

"भिक्षुओ ! तथागत ने संसार का पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार से तथागत अनासक्त हैं। भिक्षुओ ! संसार की उत्पत्ति का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार की उत्पत्ति तथागत के लिये नहीं रही।

"भिक्षुओ ! संसार के निरोध का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार का निरोध तथागत का साक्षात्कार किया हुआ है।

"भिक्षुओ ! संसार के निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है, संसार के निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग तथागत का विकसित किया हुआ है।

"भिक्षुओ ! देव, मार, ब्रह्मा, श्रमण और ब्राह्मणों के सहित सारे मनुष्य-लोक मे जो कुछ भी देखा हुआ, सुना हुआ, विचारा हुआ, जाना हुआ, प्राप्त किया हुआ, खोज किया हुआ, या मन से सोचा हुआ है, वह सब तथागत को पूर्णतः ज्ञात है। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! जिस रात तथागत सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं और जिस रात वे अनुपाधिशेष निर्वाण-धातु में प्रवेश करते हैं, उसके बीच वे जो कुछ भी कहते हैं, भाषण करते हैं, निर्देश करते हैं, या उपदेश करते हैं वह सब वैसा ही (तथा) होता है, दूसरी तरह (मिथ्या) नहीं। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! जैसा तथागत उपदेश करते हैं वैसा ही आचरण करते हैं; जैसा आचरण करते हैं वैसा ही उपदेश करते हैं। अतः जैसा कहने वाले, वैसा ही करने वाले और जैसा करने वाले, वैसा ही कहने वाले होने के कारण वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! देव, मार, ब्रह्मा, श्रमण और ब्राह्मणो के सहित सारी मानुषी और दैवी प्रजा मे तथागत सबके ऊपर विजय प्राप्त करने वाले

हैं। उनके ऊपर विजय प्राप्त करने वाला कोई नहीं है। वे सुनिश्चित ज्ञान-युक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। अपने आपको वश में रखने वाले हैं, उनको वश में रखने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।"

: ३ :

तथागत का ईर्यापथ

ईर्यापथ का साधारण अर्थ है शारीरिक चाल-ढाल। वैसे पालि-साहित्य मे चार ईर्यापथ माने गए हैं—चलना, खडा होना, बैठना और लेटना। यही 'चार ईर्यापथ' (चतु इरियापथ) कहलाते हैं। तात्पर्य किसी व्यक्ति की रहन-सहन के साधारण ढंग से है। इसी अर्थ मे हम यहाँ तथागत के ईर्यापथ का वर्णन करेंगे।

भगवान् बुद्ध की दिनचर्या पाँच भागों में बँटी हुई थी: (१) भोजन से पूर्व के कृत्य (२) भोजनोपरान्त के कृत्य (३) रात के पहले पहर के कृत्य (४) रात के बीच के पहर के कृत्य, और (५) रात के अन्तिम पहर के कृत्य। प्रातःकाल बहुत सवेरे भगवान् जग जाते थे। शौचादि से निवृत्त होकर स्नान करते थे। इस समय वे किसी सहायक को न बुलाकर सब काम अपने हाथ से ही करते थे। स्नान करने के बाद कपडे पहन कर वे किसी एकान्त स्थान मे ध्यान करने के लिये चले जाते थे। वहाँ उस समय तक रहते थे जबतक भिक्षा के लिये जाने का समय नहीं हो जाता था। भिक्षा-समय के उपस्थित होने पर तथागत पूरी तरह अपने तीनो कपडों को पहनते थे, कमर मे कमरबन्ध बाँधते थे और हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर कभी अकेले और कभी भिक्षु-संघ या कुछ भिक्षुओ के साथ पास के गाँव या शहर में भिक्षा के लिये निकल पडते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि प्रातःकाल के ध्यान और भिक्षा के लिए जाने के समय के बीच वे कुछ समय निकाल लेते थे जिसमे वे पडोस के आदमियो या भिक्षुओ से मिलने और उनकी

दशा जानने के लिये जाया करते थे। भिक्षा-पात्र हाथ में लिए, नीची दृष्टि किये, तथागत आर्य मौन-भाव से गृहस्थों के घर के दरवाजे पर खडे हो जाया करते थे। गृहस्थ लोग भी उनके गौरव के विचार से उनके पात्र को अपने हाथ मे ले लेते थे और आसन बिछा कर उन्हें और उनके साथी भिक्षुओ को भोजन से तृप्त करते थे। भोजन से हाथ खींच लेने पर तथागत भोजन का अनुमोदन करते थे और भोजन देने वाले को उसकी योग्यता के अनुसार उपदेश देते थे। इसी समय कुछ गृहस्थ लोग शीलों को ग्रहण करने का व्रत लेते थे और कुछ तो बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण चले जाते थे। उपदेश देकर भगवान् अपने आसन को छोड कर चल देते थे और जहाँ उस समय ठहरे हुए होते थे, चले जाते थे। यह भगवान् का भोजन से पूर्व का कृत्य था।

विहार मे पहुँच कर उस समय तक भगवान् बरामदे (अलिन्द) मे ही बैठते थे जबतक अन्य सभी भिक्षु भोजन को समाप्त कर वहाँ उपस्थित न हो जायँ। जब सब भिक्षु वहाँ इकट्ठे हो जाते थे तो भगवान् गन्ध-कुटी मे प्रवेश करते थे। बिछे आसन पर बैठ कर वह अपने पैर धोते थे। फिर गन्धकुटी के जीने पर खडे हो कर भिक्षुओं को उदात्त जीवन बिताने और निर्वाण-साधन के लिये कठिन पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित करते थे। अक्सर वह कहते थे, "बुद्धो का उत्पन्न होना दुर्लभ है, मनुष्य-जीवन का पाना दुर्लभ है, ऐसा अच्छा अवसर पाना दुर्लभ है, भिक्षु होना दुर्लभ है, सद्धर्म का सुनना भी दुर्लभ है।" भिक्षु लोग भगवान् से कर्म-स्थानों (समाधि के विषयो) के विषय में पूछते थे। भगवान् हरएक को उसकी योग्यता के अनुसार ध्यान करने के लिए विषय बताते थे। फिर भिक्षु एकान्त, जंगल मे भगवान के बताये ढङ्ग से ध्यान करने के लिये चले जाते थे। उनके चले जाने पर भगवान् गन्धकुटी मे कुछ देर तक सीधे करवट लेट कर, स्मृति को सामने रख कर, काया की प्रश्रब्धि के साथ आराम करते थे। अक्सर आराम न कर

उन्हें हम दोपहर की कड़ी धूप मे समाधि लगाये हुए भी देखते हैं। कभी-कभी हम इसी समय भगवान् के दर्शनार्थ आये हुए किसी आगन्तुक से भगवान् के परिचारक शिष्य आनन्द को यह कहते पाते है, "देखो, यह द्वार बन्द कोठरी है। वहाँ चुपके से धीरे जाकर, बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटाना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" अपने शरीर को कुछ विश्राम देकर भगवान् बुद्धनेत्रों से संसार के प्राणियो को देखते थे। फिर बाहर इकट्ठे हुए आदमियो को धर्मोपदेश करते थे। धर्मोपदेश सुनकर जनता भगवान् को प्रणाम कर चली जाती थी।

इस प्रकार भोजनोपरान्त के कृत्य को समाप्त कर यदि शास्ता नहाना चाहते तो बुद्धासन से उठकर स्नानागार में चले जाते थे। उनका सेवक-शिष्य उनके आसन को लेकर गन्धकुटी-परिवेण मे रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहन, काय-बन्धन बाँध कर, उत्तरासंग को इस तरह पहन कर, जिससे एक कन्धा खुला रहे, वहाँ आकर बैठते थे। अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ-तहाँ से भगवान् की सेवा के लिये आते थे। कोई उनसे प्रश्न पूछते थे, कोई कर्मस्थान (समाधि के विषय) पूछते थे, कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे। भगवान् उनकी इच्छा को पूरी करते हुए रात के पहले पहर को समाप्त करते थे।

जब भिक्षु लोग वहाँ से चले जाते थे तो कहा जाता है कि रात का मध्यम याम भगवान् विश्व-लोको से आये हुए देवताओं को उपदेश देने और उनके प्रश्नो के उत्तर देने मे व्यतीत करते थे। रात के पिछले पहर मे से पहला भाग तो भगवान् ध्यान करते हुए घूमने मे बिताते थे। दूसरे याम मे गन्ध-कुटी मे सीधी तरफ कुछ लेटते थे और तीसरे भाग में भिक्षुओ को नैतिक प्रगति के बारे मे सोचते थे। यह भगवान् की साधारण दिन-चर्या थी। इससे उनके दैनिक जीवन का कुछ चित्र हमारे सामने आता है। उनके ईर्यापथ का इससे भी अधिक

सजीव चित्र उत्तर माणवक नामक एक ब्राह्मण-विद्यार्थी ने दिया है, जिसे उसके गुरु (ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण) ने गोतम बुद्ध की परीक्षा लेने भेजा था। उत्तर माणवक ने एक समालोचक की दृष्टि से भगवान् को जाते हुए भी देखा, खड़े हुए भी देखा, गन्धकुटी में प्रवेश करते हुए भी देखा, गृहस्थों के घर मे चुपचाप बैठे भी देखा, भोजनोपरान्त भोजन का अनुमोदन करते भी देखा, आराम (विहार) को जाते भी देखा, आराम के भीतर चुपचाप बैठे भी देखा, आराम के भीतर परिषद् को धर्मोपदेश करते भी देखा, सारांश यह कि उसने तथागत के चरित्र या चारित्र्य की पूरी जांच-पड़ताल की। उसने जो कुछ देखा उसका यह चित्र वह हमारे लिये छोड़ गया है :

"वह भगवान् चलते समय पहले दाहिना पैर उठाते है। वह न बहुत दूर से पैर उठाते हैं, न बहुत समीप रखते हैं। वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति धीरे से चलते हैं। न जानु से जानु रगड़ कर चलते हैं, न गुल्फ (घुट्टी) से गुल्फ रगड़ कर चलते हैं। चलते वक्त वह न उरु को ऊपर उठाते हैं, न उसे नवाते हैं, न घुमाते हैं, न हिलाते हैं। चलते वक्त गोतम का निचला शरीर ही हिलता है, वे शरीर को फैंकते नहीं चलते। बिना अवलोकन करते वह गोतम सारी काया से अवलोकन करते-से हैं। वह न ऊपर की ओर अवलोकन करते हैं, न नीचे की ओर अवलोकन करते हैं, न चारों ओर देखते चलते हैं। सिर्फ चार हाथ (युगमात्र) आगे देखते हैं, इसके आगे उनकी खुली ज्ञान-दृष्टि होती है।

"गृहस्थों के घर के भीतर वह न काया का उन्नामन (उठाना) करते हैं, न अवनामन (नीचे करना) करते हैं, न काया को सन्नामन (घुमाना) करते हैं, न विनामन (हिलाना) करते है। वह न आसन से दूर, न अति समीप काया को पलटते हैं। न हाथ का सहारा लेकर आसन पर बैठते हैं, न आसन पर काया को फैंकते से हैं। वह घर के भीतर न हाथ की चंचलता दिखलाते हैं, न पैर की चंचलता दिखलाते हैं, न जानु पर जानु रख कर बैठते हैं, न घुट्टी को घुट्टी पर चढ़ा कर

बैठते हैं, न हाथ को ठुड्डी पर रखकर बैठते हैं। वह घर में बैठे हुए न स्तब्ध होते हैं, न काँपते हैं, न हिलते हैं, न चंचलता (परित्रास) को उत्पन्न करते हैं। वह स्तब्धता से रहित, कम्पन से रहित, परित्रास-रहित, रोमांच-रहित, विवेकयुक्त हो घर के अन्दर बैठते हैं।

"वह पात्र मे जल ग्रहण करते समय न पात्र को ऊपर उठाते हैं, न पात्र को नवाते हैं, न घुमाते हैं, वह भात (ओदन) न बहुत कम ग्रहण करते हैं, न बहुत अधिक। गोतम व्यंजन (साग-तरकारी) को व्यंजन की मात्रा से ग्रहण करते हैं। ग्राम मे अधिक मात्रा मे व्यंजन ग्रहण नहीं करते। दो-तीन बार मुख मे ग्रास को चबाकर गोतम खाते हैं। भात का जूठन अलग होकर उनके शरीर पर नहीं गिरता। भात का जूठन मुँह मे बचे रहते वह दूसरा ग्रास मुँह मे नहीं डालते। रस को प्रतिसंवेदन (अनुभव) करते ही गोतम आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु रस में राग को प्रतिसंवेदन नही करते। गोतम आठ बातो से युक्त हो कर आहार ग्रहण करते हैं—(१) न चपलता के लिए (२) न मद के लिए (३) न मंडन के लिए (४) न विभूषण के लिए (५) जितना आहार इस काया की स्थिति और (६) यापन के लिए (७) भूख की पीडा की शान्ति के लिए, और (८) ब्रह्मचर्य की सहायता के लिए आवश्यक है, उतना ही आहार वह ग्रहण करते हैं। इस प्रकार भोजन करते हुए वे सोचते हैं—इस आहार से मेरी पुरानी वेदनाएँ हटेंगी, नई वेदनाएँ उत्पन्न न होंगी, मेरी शरीर-यात्रा भी होगी, निर्दोषता और सरल विहार भी होंगे।

"वह भोजन के बाद जल ग्रहण करते समय न जल को उछालते हैं, न नीचे गिराते हैं, न इधर-उधर घुमाते हैं, न हिलाते हैं। वह न पात्र को बुल्बुल् करके धोते हैं, न उलटतें हुए धोते हैं। न पात्र को भूमि पर फेककर हाथ धोते हैं। उनके हाथ धोते समय पात्र धुल जाते है, पात्र-धोते समय हाथ धुल जाते हैं। वह पात्र के जल को न अति दूर से छोडते हैं, न अति समीप से, न घुमाते ही छोडते है। वह भोजन कर

चुकने पर न पात्र को भूमि पर फेंकते हैं, न अति दूर, न अति समीप रखते हैं। न पात्र से बेपर्वाह होते हैं, न सदा उसकी रक्षा में ही तत्पर रहते है।

"भोजनोपरान्त वह थोडी देर चुपचाप बैठते हैं और भोजन सम्बन्धी अनुमोदन के काल को अतिक्रमण करते है। भोजनोपरान्त वह उस भोजन का अनुमोदन करते हैं, उसकी निन्दा नहीं करते। एक बार भोजन कर लेने के बाद और (अतिरिक्त) भोजन वह नहीं चाहते। भिक्षु-परिषद् को वह धार्मिक कथाएँ कहकर प्रसन्न, समुत्तेजित और संप्रहर्षित करते हैं। ऐसा कर आसन से उठकर चले जाते हैं।'

"वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति शनैः चलते हैं, न छूटने की इच्छा से जैसे चलते हैं। गोतम के शरीर मे वस्त्र न अत्यन्त ऊपर रहता है, न अत्यन्त नीचे, न काया मे अत्यधिक सटा हुआ, न काया से अत्यधिक निकला हुआ। गोतम के शरीर से हवा वस्त्र को नहीं उडाती। गोतम के शरीर मे धूल भी नही चिपटती।

"वह विहार के भीतर बिछे आसन पर बैठते हैं। बैठकर पैर धोते हैं, किन्तु पैर के मण्डन मे तत्पर होकर नहीं विहरते। वह पैरो को धो कर, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने रखकर बैठते हैं। वह न आत्म-पीडा के लिये सोचते हैं, न पर-पीडा के लिये सोचते हैं और न आत्म और पर, दोनो की ही पीडाओ के लिये सोचते है। गोतम आत्म-हित, पर-हित, अपने और पराये दोनो के हित, सारे लोक के हित, के लिए चिन्तन करते ही आसीन रहते हैं।"*

तथागत के बाहरी जीवन का यह छोटा-सा चित्र है। वे वास्तव मे मानवता के आदर्शों के साकार रूप थे। जीवन की प्रत्येक छोटी-से-छोटी क्रिया में भी उनका कितना संयम, कितना सम, कितना संगीत !

---

* ब्रह्मायु-सुत्त (मज्झिम २।५।१) राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, कुछ परिवर्तनो के साथ।

निश्चय ही जैसा तथागत का कर्म-सौष्ठव वैसा ही उनका ज्ञान-सौन्दर्य ! जो कुछ उस अद्भुत पुरुष ने कहा सब सुन्दर, जो कुछ उसने किया सब सुन्दर !

लोकोत्तरा भगवतो चर्या लोकोत्तरं कुशलमूलं ।
गमनं स्थितं निषण्णं शयितं लोकोत्तरं मुनिनो ॥
यत्तत् सुगतशरीरं भवते भवस्य बन्धनक्षयकरणं ।
लोकोत्तरं तदपि भो इत्यत्र न संशयः कार्यो ॥
चीवरधरणं मुनिनो लोकोत्तरं अत्र संशयो नास्ति ।
आहाराहरणमथो लोकोत्तरमेव सुगतस्य ।
देशना नरनागानां सर्वलोकोत्तरा मता ॥*

---

* महावस्तु, पृष्ठ १६७–१६८ ।

: ४ :

धर्मसेनापति सारिपुत्र

धर्म-सेनापति सारिपुत्र गोतम बुद्ध के प्रमुख शिष्यो मे से थे। एक प्रकार से कहना चाहिए कि वे भगवान् बुद्ध के सबसे प्रधान शिष्य (अग्गसावक) ही थे। 'धर्मसेनापति' या 'धम्मसेनापति' वे इस लिए कहे जाते हैं कि महा-विजयी (बुद्ध) ने जिस धर्म-साम्राज्य को स्थापित किया, उसके सेनानी होने का भार सारिपुत्र ने ही वहन किया। सम्यक् सम्बुद्ध ने जिस अनुत्तर धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया, उसे अनु-प्रवर्तित करते हुए सारिपुत्र ही विहरते थे। इसलिए उनकी 'धर्म-सेनापति' संज्ञा सार्थक ही थी। बुद्ध यदि चक्रवर्ती हैं तो सारिपुत्र उनके सेनापति। बुद्ध-चक्रवर्ती के उदय होने पर जिन शील, समाधि आदि सात रत्नों का प्रादुर्भाव होता है,* उनकी रक्षा सारिपुत्र जैसे भगवान् (बुद्ध) के 'औरस (हृदय से उत्पन्न) पुत्र' ही करते हैं। जिन्होंने बुद्ध को देखा, उन्होंने साक्षात् धर्म को ही देखा और आज हम धर्म के द्वारा ही बुद्ध को देखते हैं—'यो धम्मं पस्सति सो भगवन्तं पस्सति'। वैष्णव अर्थों मे भी यह बिल्कुल ठीक ही है। धर्म को ही सत्य कहा जाता है, और सत्य भगवान् का विग्रह है। जो 'बुद्ध' है, वही भगवान् है, नारायण है।† 'बुद्धत्व' ब्रह्म का

* सात रत्नो के वर्णन के लिये देखिये चक्कवत्ति सुत्त,सयुत्तनिकाय; मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४१६-१८ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)।

† देखिये महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३०८, श्लोक १-२२ (चित्रशाला प्रेस, पूना का सस्करण)

स्वभाव है, क्योंकि वह स्वयंज्योति है। सभी 'बुद्ध' (ज्ञानी पुरुष) अपने ही प्रकाश से चमकते है, पराधीन-प्रकाशता उनमे नहीं होती। इसलिए हम कहते हैं कि धर्म, सत्य, परमेश्वर और 'बुद्ध' समानार्थ-वाची शब्द हैं। 'धर्म' के ही सेनापति सारिपुत्र थे।

पर स्वयं बुद्ध को तो इतना कहाँ कहना था! उनसे जब एक बार पूछा गया कि बुद्ध रूपी चक्रवर्ती का सेनापति कौन है तो भगवान् ने कहा, "मेरे द्वारा संचालित अद्वितीय अनुपम धर्म-चक्र को तथागत का अनुजात (पीछे उत्पन्न) सारिपुत्र ठीक से अनुचालित कर रहा है"।* हमे जानना चाहिये कि इसी अर्थ मे बौद्ध सङ्घ सारिपुत्र को 'धर्म-सेनापति' कह कर पुकारता था। 'मिलिन्द-प्रश्न'-कार ने धर्म-नगर (धम्म नगर) का एक सुन्दर रूपक खींचा है।† 'धर्म-नगर' की रक्षा सारिपुत्र जैसे चतुर सेनापतियों ने ही की। पर जब वैसे क्षीणास्रव अर्हत् (सिद्ध पुरुष जिनके चित्त-मल नष्ट हो गये हैं) न रहे, तो 'धर्म-नगर' (बुद्ध-धर्म) भी न रह गया।

---

* शैल नामक ब्राह्मण ने भगवान् से पूछा था—"अनुपम धर्म-राजा सम्बुद्ध तुम अपने को कहते हो, हे गोतम! 'धर्म से चक्र चला रहा हूँ' यह भी तुम कहते हो; कौनसा आप शास्ता का शिष्य श्रेष्ठ सेनापति है जो इस आपके द्वारा चलाये धर्म-चक्र को फिर भी अनु-चालित कर रहा है? इसी के उत्तर मे भगवान् ने यह कहा था। देखिये सेलसुत्त (मज्झिमनिकाय २।५।२)। अगुत्तर-निकाय मे भी भग-वान् ने सारिपुत्र की प्रशसा मे कहा है "भिक्षुओ! सारिपुत्र को छोडकर मैं किसी दूसरे को ऐसा नही पाता जो मेरे द्वारा चलाये गये धर्म-चक्र को फिर भी चलावे। भिक्षुओ! सारिपुत्र ही मेरे द्वारा प्रवर्तित धर्म-चक्र को ठीक से चला सकता है।"

† देखिए मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४१६-२६ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

विनय ही शाक्य-मुनि के शासन की आयु थी। सारिपुत्र की जीवन-स्मृति 'आर्य-विनय' (बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त एक अत्यन्त सार्थक शब्द) का एक सुन्दर पाठ है।

आर्य-पद्धति मे मनुष्य का वास्तविक जन्म तभी से माना जाता है जब से वह साधना मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सारिपुत्र के जीवन की कहानी वास्तव मे हमे उनके प्रव्रज्या-काल से ही आरम्भ करनी चाहिये; किन्तु इस महान् साधक की साधना 'अनेकजन्म-संसिद्ध' तप से पकी हुई और परिपूरित थी, इसलिए बालकपन से ही इसकी प्रवृत्ति प्रविविक्त-चिन्तन (एकान्त-चिन्तन) की ओर ही थी। "उपतिष्य मेरा नाम है, सारिपुत्र कहकर गुरु भाई (स-ब्रह्मचारी) मुझे पुकारते हैं।" इस प्रकार अपना विनम्र परिचय इस विनीत भिक्षु ने अपने एक समकालीन भिक्षु को दिया था।* अपने ही तेज से प्रकाशित मण्डल वाले, सूर्य के समान दिशा-विदिशाओ को ज्ञान-दीप्ति से भर देने वाले सम्यक् सम्बुद्ध के इस प्रधान शिष्य का जन्म एक छोटे-से गांव मे हुआ था और वहीं से प्रायः इस देश की सर्व-विध प्रतिभा निःसृत हुई है। सारिपुत्र का जन्म मगध देश में राजगृह नगर के समीप उपतिष्य नामक ग्राम में (जिसको नालक ग्राम भी कहा जाता है) ब्राह्मण कुल मे हुआ था। पुरातत्वविदों का अनुमान है कि यह स्थान वर्तमान सारीचक, बडगाँव, नालन्दा के समीप, जिला पटना में है।† सारिपुत्र के पिता का नाम वंगन्त और माता का नाम रूपसारि था। सम्भवतः अपनी माता के नाम पर ही इनका नाम 'सारिपुत्र' पडा। सारिपुत्र के पिता वंगन्त अपने गांव के मुखिया थे और इनकी अतुल सम्पत्ति का वर्णन मिलता है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थो में सारिपुत्र को ही शालिपुत्र, शारिसुत और

---

* देखिये रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।४)

† देखिये बुद्ध-चर्या, पृष्ठ ४६६

शारद्वती-पुत्र भी कहा गया है । 'अपदान' में इनको 'सारिसम्भव' कह कर पुकारा गया है।* इन सबसे मालूम होता है कि सारिपुत्र की माता का नाम सम्भवतः रूपसारि ही रहा होगा, पर माता रूपसारि स्वयं अपने विचार से एक सुखी माता नहीं थीं।

सारिपुत्र चार भाई थे। सारिपुत्र सब मे बडे थे। अन्य तीन के नाम थे—चुन्द, उपसेन और रेवत। सारिपुत्र की तीन बहनें भी थीं, जिनके नाम थे, चाला, उपचाला और शिशूपचाला। भाई-बहनें सभी बडे विज्ञ और साधन-सम्पन्न थे। उस समय विचार-शील स्त्री-पुरुषो के लिए तथागत के व्यक्तित्व का बहुत बडा प्रभाव था। हम जानते हैं कि वह प्रभाव समाप्त तो कभी नहीं हुआ और जब तक जीवन मे मृत्यु, जन्म, जरा, रोग, भय, शोक-सन्ताप हैं वह समाप्त भी कैसे हो सकता है? अतः काले केश रहते ही, अत्यन्त अल्प वयस् मे ही, इन सब भाई-बहनों ने संस्कारों की अनित्यता को देख लिया। देख लिया कि ये सब उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) वाले हैं। फिर उनमें मन कैसे लगे! सभी ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वे सभी बुद्ध की शरण भी गये, धर्म की शरण भी गये और गये संघ की शरण भी। यहीं माता रूपसारि के कष्ट की सीमा थी। सात अर्हतो की माता होने के उसके गौरव को तो आज हम याद करते है और साधकों का जगत् सदा याद करेगा, पर स्वयं माता रूपसारि के हृदय मे क्या आग धधकती थी, इसका भी कुछ निर्देश हमें पालि-ग्रन्थो से मिल जाता है। माता रूपसारि का बौद्ध संघ में बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। उल्टे वह उसे निरन्तर कोसती थीं। एक बार जब सारिपुत्र भिक्षु की अवस्था में अन्य भिक्षुओ के साथ, जिनमें राहुल भी थे, अपने गाँव गये, तो उनकी

* 'अपदान', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४८० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

माता ने उन सब भिक्षुओ को और बौद्ध संघ को भी खूब फटकारा था*। स्वयं अपने बेटे सारिपुत्र की बातें तो माता रूपसारि को बिल्कुल ही नहीं सुहाती थी। अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हुए भी क्या जगत् ने साधको को कभी पहचाना? जिस सारिपुत्र के गम्भीर धर्मोपदेश को बुद्ध तथागत अपने उपदेश के समान ही गम्भीर मानते थे, उसी को सुनने मे उनकी माता को अतिशय घृणा होती थी। पर वैसे माता रूपसारि बडी सरल-हृदया थीं और आगे चलकर तो हम देखेंगे कि वे भी अपने पुत्र के प्रभाव से बुद्ध की शरण गईं, धर्म की शरण गईं और संघ की शरण भी गईं। किन्तु यह सब तबतक नहीं हुआ जबतक कि माता रूपसारि को अपने पुत्र से वियोग का अन्तिम क्षण ही नहीं आगया।

सारिपुत्र बचपन से ही एकान्त-चिन्तनशील थे। नालक गाँव के पास एक दूसरा गाँव था जिसका नाम था कोलित ग्राम। इस गांव का एक छोटा बालक सारिपुत्र का बडा घनिष्ठ मित्र था। इसका नाम था महामौद्गल्यायन। कहा जाता है कि सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन के कुटुम्बो मे सात पीढ़ियों से बडी घनिष्ठता चली आ रही थी। इसलिए दोनों बालकों मे घनिष्ठता होनी स्वाभाविक ही थी। मौद्गल्यायन आगे चलकर गोतम बुद्ध के दूसरे प्रधान शिष्य हुए। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का बहुत दिन तक साथ रहा। यह भी कहा जाता है कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन एक ही दिन पैदा हुए थे। कुछ भी हो, इन 'कल्याणमित्र' युगल भिक्षुओं का व्यक्तित्व बुद्ध की शिष्य-मण्डली मे निश्चय ही अत्यन्त प्रभावशाली था और इनकी साधना भी एक ही दिशा मे चली थी। इन दोनों भिक्षुओं के वर्णन भी प्रायः साथ-ही-साथ मिलते हैं। यहां इस बात का हमें

---

* देखिये धम्मपद-अट्ठकथा, जिल्द चौथी, पृष्ठ १६४ (पालि-टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

बड़े ध्यान से स्मरण रखना चाहिए कि सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन दोनो ही अवस्था मे भगवान् गोतम बुद्ध से बडे थे, क्योंकि जहां इनके जन्म का वर्णन आया है वहाँ कहा गया है कि ये दोनो ही गोतम बुद्ध के जन्म से पहले (अनुपपन्ने येव हि बुद्धे)* पैदा हुए थे। इस बात को याद रखकर जब हम इन दोनो भिक्षुओं की भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा को देखते है, उनके पारस्परिक सम्भाषणो को सुनते है और बुद्ध जिस प्रकार उन्हें सम्बोधन आदि करते हैं उसे देखते हैं तो एक विशेष आनन्द की स्मृति उमड़ पडती है।

एक बार की बात है कि सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन दोनो अपने गाँव के पास ही एक जगह मूक अभिनय (गिरग्गसमज्जा) देखने गये। वे दोनो अभी बालक ही थे; किन्तु उस खेल को देखकर उन्हें संस्कारों के खेल की झलक मिली, चित्त मे उदासीनता आई। सोच-विचार किया। दोनो ही घर छोड़, प्रव्रजित हो गये। उस समय इस देश मे अनेक परिव्राजक अपने सैकडों और सहस्रो शिष्यो के साथ आश्रमो मे रहा करते थे। ऐसे ही एक परिव्राजक के पास जिसका नाम संजय था, सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन भी रहने लगे। बहुत तीव्र साधना की, पर शान्ति न मिली। अन्त मे उन्होने वह आश्रम छोड दिया। दोनों एक-दूसरे को यह वचन देकर कि जिसको ज्ञान की प्राप्ति पहले हो वही दूसरे के पास जाकर उसे कहे, एक दूसरे से अलग हो गये। सारिपुत्र किंकुशलगवेषी (कौनसा मार्ग कुशल है, इसकी गवेषणा करने वाले) होकर सारे भारतवर्ष (जम्बुद्वीप) मे इधर-उधर घूमने लगे।

कई वर्ष खाक छानते-छानते बीत गये, पर हृदय को शान्ति नही मिली। न जाने कितने आश्रमो को देखा, कितने परिव्राजको से समागम किया, कितनी बार तीनो विद्याओ (तीन वेदो) का श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया, किन्तु हृदय की जलन नहीं मिटी। राजगृह की उन्हीं

---

* धम्मपद–अट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ ७३

पुरानी गलियों में निरुद्देश्य से जड़वत् होकर सारिपुत्र घूम रहे हैं। सहसा उनके मलिन चेहरे पर एक बिजली की रेखा-सी दौड़ जाती है। सारिपुत्र ने कुछ विशेष बात देखी है। वह कुछ देर ठहर कर विचार-मग्न हो जाते हैं। उनके बहुत समीप ही काषायवस्त्र पहने हुए एक भिक्षु खड़ा है। वस्त्रों से अच्छी प्रकार आच्छादित है, इन्द्रिय-संयम से जैसे पूरी तरह ढँका हुआ ही मालूम पड़ता है। नजर नीचे को है, अंगों का उचित समेटन और फैलाव गम्भीर आध्यात्मिक संस्कृति को प्रकट करता है। उसकी चितवन, आलोकन और विलोकन सभी एक विशेष प्रकार के हैं। इसी व्यक्ति ने सारिपुत्र के मन पर जादू डाला है। यह एक बौद्ध भिक्षु है, जो राजगृह में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ है। सारिपुत्र कुछ ठहरते हैं। फिर जब उसे अपने कार्य से निवृत्त देखते हैं तो पास जाकर पूछते हैं :

"आवुस ! तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं। तुम्हारी कान्ति शुद्ध, वर्ण उज्ज्वल है। आवुस ! तुम किसको गुरु मानकर साधु हुए हो ? तुम्हारा शास्ता कौन है ? तुम किसके मार्ग को मानते हो ?"

"आवुस ! शाक्यकुल से प्रव्रजित शाक्य-पुत्र जो महा श्रमण हैं, उन्ही भगवान् को गुरु मान कर मैं साधु हुआ हूँ। वही मेरे शास्ता हैं। मै उन्हीं के मार्ग को मानता हूँ।"

"आयुष्मान् के गुरु का क्या मत है ?"

"आवुस ! इस धर्म मे मैं अभी नया ही प्रव्रजित हुआ हूँ। इसलिए विस्तार से तो मैं तुम्हें बता नहीं सकता। हाँ, संक्षेप मे मैं तुम्हें धर्म कहता हूँ।"

"अच्छा आवुस ! थोड़ा बहुत जो कुछ भी जानते हो कृपा करके मुझसे कहो। सार ही को मुझे बतलादो। क्या करोगे बहुत-सा विस्तार कह कर ?"

"सुनो आवुस ! हेतु से उत्पन्न होने वाली जितनी वस्तुएं है, तथागत उनका हेतु बतलाते हैं, और उनका जो निरोध है उसे भी वे बतलाते

हैं। यही महाश्रमण का मत है।"*

जिस भिक्षु से सारिपुत्र की ये बातें हो रही थीं उनका नाम था अश्वजित् (अस्सजि)। सारिपुत्र ने उनके उपर्युक्त शब्दों को सुनकर ही अपने को धन्य माना। उनको ऐसा लगने लगा मानो वह निर्वाण-गामी मार्ग की धारा में ही पड गये हैं। इसी को बौद्ध साहित्य में कहा जाता है कि वह स्रोत-आपन्न हो गये। झटपट वह अपने मित्र मौद्गल्यायन के पास गये। मौद्गल्यायन ने भी अपने मित्र को दूर से ही देखकर कहा—

"आवुस! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरी कान्ति शुद्ध और वर्ण उज्ज्वल है। आवुस! तूने अमृत तो नहीं पा लिया?"

"हाँ आवुस! अमृत पा लिया।"

"आवुस! तूने कैसे अमृत पाया?"

सारिपुत्र ने सब कथा कह सुनाई। मौद्गल्यायन भी उसी समय स्रोतआपन्न हो गये। मौद्गल्यायन ने प्रस्ताव रक्खा कि शास्ता के पास चला जाय; पर सारिपुत्र अपने पूर्व गुरु सञ्जय परिव्राजक के बडे कृतज्ञ थे। उन्होने सोचा कि इस महान् सौभाग्य में अपने गुरु को भी साझीदार क्यो न बनाया जाय? सारिपुत्र और मौद्गल्यायन सञ्जय परिव्राजक के पास गये। प्रार्थना की कि भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शनों के लिए चले। सञ्जय को महन्ताई का लोभ खींचता था। वह बुद्ध के पास चलने को तैयार नहीं हुआ। उल्टे सारिपुत्र को मठ की महन्ताई का लोभ देकर रोकने की उसने चेष्टा की, पर जो चालीस कोटि की सम्पत्ति और ५०० सोने की पालकियों को त्याग चुका था (सारिपुत्र की इतनी सम्पत्ति का वर्णन मिलता है) वह एक आश्रम की महन्ताई से रुकने वाला नहीं था। सञ्जय परिव्राजक के २५० † शिष्यों को

---

* ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतु तेसं तथागतो आह। तेस च निरोधो। एववादी महासमणो।

† पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स (जिल्द दूसरी मे 'सारिपुत्त'

लेकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायन शास्ता के दर्शनो के लिए राजगृह के समीप वेणुवन को चल दिये।

भगवान् ने दूर से ही सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को आते देखा और भिक्षुओ को सम्बोधित किया :

"भिक्षुओ! ये दो मित्र कोलित (मौद्गल्यायन) और उपतिष्य (सारिपुत्र) आरहे हैं। ये मेरे दो प्रधान शिष्य होगे।"

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने भी भगवान् के चरणो मे सिर झुका कर प्रणाम किया और प्रार्थना की :

"भन्ते! भगवान् हमें प्रव्रज्या दे, भगवान् हमे उपसम्पदा दे।"

"आओ भिक्षुओ! यह धर्म सु–आख्यात है। अच्छी तरह दुःख का क्षय करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।" यही उन आयुष्मानो की उपसम्पदा हुई।

उप-सम्पदा के सात दिन के बाद ही मौद्गल्यायन अर्हत्व-फल मे प्रतिष्ठित हो गये, अर्थात् उनके चित्त-मल सर्वथा नष्ट हो गये। सारिपुत्र को अर्हत् होने मे अभी दो सप्ताह और लगे। राजगृह मे गृध्रकूट पर्वत पर शूकरखाता नामक स्थान पर जब भगवान् ने दीर्घनख नामक परिव्राजक को 'वेदना परिग्रह' नामक सूत्र का उपदेश दिया तो उसे सुन कर सारिपुत्र को अर्हत्व-फल की प्राप्ति हुई। उन्होने अनुभव किया कि अब चित्त-मल उनके अन्दर बिलकुल नहीं रहे।

सारिपुत्र के स्वभाव की दो सबसे बडी विशेषताएँ थी, उनकी विनम्रता और कृतज्ञता-बुद्धि। सारिपुत्र अतिशय विनयी और कृतज्ञ पुरुष थे। यद्यपि बौद्ध सङ्घ के वह प्रधानतम भिक्षु माने जाते थे, फिर भी उनका जीवन साधारण-से-साधारण भिक्षु के समान

शीर्षक के नीचे) यह सख्या ५०० लिखी है। यह विनय-पिटक के वर्णन के अनुसार नहीं है। देखिए विनय-पिटक, पृष्ठ ६६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

ही था। आमिषदायाद (धनादि भोगों का उत्तराधिकारी) होने की भावना प्रारम्भिक बौद्ध सङ्घ मे बिलकुल नहीं थी। इसलिए रूखा-सूखा भोजन, रूखे-सूखे कपडे, जैसा-तैसा निवास-स्थान और बीमार हो जाने पर गोमूत्र मे शुधी हुई हर्रें, यही जीवनोपयोगी सामग्री जैसे अन्य भिक्षुओ को होती थी, वैसे ही वह 'धर्मसेनापति' की भी थी; बल्कि सारिपुत्र की साधना तो इनके भी व्यवहार मे बडी परिमित थी। अवधूत-व्रतो का वह पूर्णतः पालन करते थे और दूसरे भिक्षुओ को उनका उपदेश भी करते थे। एक बार की बात है कि भिक्षु-संघ के साथ भगवान् श्रावस्ती गये हुए थे। वहां जाने पर जो कुछ निवास-स्थान मिले, भिक्षुओं ने एक-एक कर उन सबको झपट लिया। बेचारे सारिपुत्र को सोने के लिए कोई जगह ही नहीं मिल सकी। यदि चाहते तो इन्तजाम करवा सकते थे, परन्तु वह रात उन्होंने विहार के बाहर एक पेड के नीचे ही बिताई। रात के पिछले पहर मे भगवान् खाँसे। सारिपुत्र का भी खाँसना उन्हें सुनाई दिया।

उन्होंने पूछा, "यहाँ कौन है?"

"भन्ते! मै सारिपुत्र हूँ।"

"सारिपुत्र, तू यहां क्यो बैठा है?"

सारिपुत्र ने सब बात कह सुनाई।[१] भगवान् ने भिक्षुओ को बहुत फटकारा। तथागत का सेनापति बिना बिस्तर के भी सो जाता था!

सारिपुत्र का 'धर्मसेनापतित्व' पूर्णतः सेवा और आध्यात्मिक अनुभूति मे था, शुष्क ज्ञान या अन्य किसी भौतिक तत्व मे उसकी बुनियादें कभी नही थी। कई बार हमको ऐसे वर्णन मिलते हैं कि जब सब भिक्षु भिक्षा के लिए निकल जाते थे तो सारिपुत्र स्वयं विहार के चारों ओर चक्कर लगाकर बिना झडे हुए स्थानो को स्वयं झाडते थे, खाली

---

[१] देखिए, विनय—पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४६३ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

पात्रों मे जल भर देते थे और सोने बैठने के आसनो को ठीक कर देते थे। इस प्रकार विहार की सफाई आदि करते हुए हम अनेक बार सारिपुत्र को देखते हैं। बीमारो को देखने और उनकी सेवा करने की सारिपुत्र को बडी लगन रहती थी, जैसी कि उनके शास्ता बुद्ध और आनन्द आदि सब्रह्मचारियो को भी थी। समितिगुप्त नामक एक कुष्ठ-पीडित रोगी की सारिपुत्र ने बडी सेवा की थी और उसे अर्हत् पद की प्राप्ति करने मे भी बडी सहायता की थी। सारिपुत्र की कृतज्ञता की भावना तो बडी ही गम्भीर थी और वह उनके स्वभाव की तह तक ही हमे ले जाती है। संजय परिव्राजक के प्रति तो उनकी कृतज्ञता हम देख ही चुके हैं। एक बार एक ब्राह्मण से उन्होने एक कलछी-भर भात पाया था। उसी की कृतज्ञता मे उन्होने अपने शास्ता बुद्ध को उस ब्राह्मण को उप-सम्पादित (भिक्षु बनाने का संस्कार) करने के लिए प्रेरित किया।* पर उनकी कृतज्ञता की सबसे बडी झलक तो हमे उनकी स्थविर अश्वजित् (जिनसे उन्हे प्रथम बार बुद्ध के विषय में परिचय मिला था) के प्रति लोकोत्तर निष्ठा और श्रद्धा से मिलती है। जब सारिपुत्र 'धर्म-सेनापति' भी बन गए और सारा भिक्षु-संघ उनको प्रज्ञा और अन्तर्दर्शन मे बुद्ध से दूसरे नम्बर पर मानने लगा, उस समय भी, बल्कि कहना चाहिए जबतक सारिपुत्र ने शरीर नहीं छोडा, ठीक उस समय तक, प्रतिदिन सन्ध्या समय जिस दिशा मे जानते थे कि स्थविर अश्वजित् हैं, उस को प्रणाम करते थे और उसी की ओर सिर करके सोते थे। अपने शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति उनकी जो अगाध निष्ठा और श्रद्धा थी, उसके कुछ चित्र हम आगे देखेंगे।

भिक्षु-नियमो का पालन सारिपुत्र बडी कडाई के साथ करते थे। एक बार जब वह बीमार पडे तो उनसे कहा गया कि कुछ लहसुन लेने

---

* देखिए विनय-पिटक महावग्ग, पृष्ठ १०५ (राहुल साकृत्यायन का अनुवाद)

से उनकी व्याधि शान्त हो सकती है, किन्तु लहसुन खाना भिक्षुओ को निषिद्ध था। इसलिए सारिपुत्र ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। बाद मे शास्ता की आज्ञा से वह उन्हें दवा के रूप में लेना पडा। एक दूसरी बार जब सारिपुत्र बीमार हुए तो मौद्गल्यायन ने उनसे पूछा कि कौनसी दवा चाहिये। सारिपुत्र ने बतलादी। उनके कहने पर वह दवा लाई गई; किन्तु सारिपुत्र को इतने ही मे यह विचार हो आया, "अरे, मैंने माँगकर दवा ली है। यह बुरी बात है। इससे मेरी जीविका बुरी हो जायगी।" उन्होने वह दवा नहीं खाई। मौद्गल्यायन से कहने लगे, "यदि मुंह से माँग कर मैं कुछ मीठी खीर खालूं तो उससे मेरी जीविका निन्दित समझी जायगी। यदि मेरी अंतडियां भूख से बाहर निकल कर आजाएँ तब भी मै अपनी जीविका को नही तोड सकता, प्राण भले ही निकल जाएँ।"* ऐसे ही भिक्षुओ पर गोतम बुद्ध ने अपने अनुत्तर धर्म की नींव रक्खी थी। "गीला या सूखा कुछ भी खूब कसकर नही खा लेना चाहिए। खाली पेट या थोडा ही खाकर रहने वाला बन, भिक्षु प्रव्रजित होवे। चार या पाँच कौर खाने के बाद यदि कुछ न मिले तो पानी पीले। आत्म-संयत भिक्षु के लिए यही काफी है।"† इसी आदर्श को लेकर सारिपुत्र जीवन बिताते थे। उनका कहना था, "न मुझे मरने की चाह है, न जीने की। ज्ञान-पूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूं।"‡ ऐसे व्यक्ति को किस पदार्थ मे रस आ

---

* मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५५ मे उद्धृत। यहा यह कथा संक्षेप मे दी गई है, विस्तार से वर्णन के लिए देखिए 'विसुद्धिमग्ग' १। ११७-१२१ (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी का सस्करण)

† मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४६८ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

‡ सारिपुत्र का वचन, मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५५ मे उद्धृत (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

संकुता था और जब रस ही नहीं था तो वेदना भी कहाँ से उत्पन्न होती ? सारिपुत्र को पहले पिट्ठी भरी कडी रोटी (पिट्ठखज्जक) खाना बहुत पसन्द था, किन्तु अस्वाद व्रत को बढाने की दृष्टि से उन्होने उनका खाना बिल्कुल छोड दिया। साधकों की समस्याएं सब युगो मे प्रायः समान ही होती है। सारिपुत्र बौद्ध साधना के उस युग के अग्रणी व्यक्ति थे,जब न भिक्षु-नियम थे और न भिक्षुणी-नियम और जब शास्ता अपने सम्पूर्ण सङ्घ के विषय मे यह कह सकते थे, "इन पाँचसौ भिक्षुओ मे से जो पिछड़ा हुआ भी भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपन्न-फल को तो प्राप्त है ही, दुर्गति से रहित तो है ही, स्थिर सम्बोधि-परायण तो है ही।"

भगवान् बुद्ध सारिपुत्र के बडे प्रशसक थे। भिक्षुओ की भरी सभा मे उन्होने सारिपुत्र को महा-प्रज्ञो मे अग्रणी उद्घोषित किया (एतदग्गं महापञ्ञाणं)। प्रज्ञा में बुद्ध सारिपुत्र को केवल अपने से ही नीचा समझते थे। बुद्ध जब त्रायस्त्रिंशलोक से अपनी माता को अभिधर्म का उपदेश देकर संकाश्य नगर* मे आए तो अभिधर्म के विषय में विशेष ज्ञान उन्होने सारिपुत्र को ही दिया। बुद्ध के द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर सारिपुत्र के सिवा और कोई भिक्षु नहीं दे सका। हाँ, कुछ प्रश्न सारिपुत्र की भी ज्ञान-शक्ति के परे थे और उन्हे केवल सम्यक् सम्बुद्ध ही जानते थे। पर-चित्त ज्ञान सारिपुत्र की प्रज्ञा से ऊपर की चीज़ थी और अधिकारी की योग्यता के अनुसार योग-साधन (कर्म—स्थान) का विधान करने में भी वे उतने कुशल नही थे। यह काम एक पूर्ण ज्ञानी पुरुष (सम्यक् सम्बुद्ध) ही कर सकता था। सारिपुत्र ने चूंकि प्रारम्भ से ही बौद्ध सङ्घ में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया था, इसलिए कुछ भिक्षु इससे खिन्न भी होते थे, किन्तु उन्हें समझाने के लिए भगवान् बुद्ध अनेक बार सारिपुत्र की पूर्व-जन्मो की साधनाओ पर ज़ोर देते रहते

---

* वर्तमान संकिसा-बसन्तपुर (जिला फरूखाबाद), देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ १४४ पदसकेत २

थे। भगवान् बुद्ध का यह दृढ विश्वास था कि सारिपुत्र 'अनेक-जन्मसंसिद्ध' पुरुष थे। अनोमदर्शी बुद्ध (एक पूर्व बुद्ध) के समय से ही सारिपुत्र ने अनेक जन्मो मे महान् त्याग किये थे और अनेक प्रकार की पारमिताएँ प्राप्त की थीं। कम-से-कम ६० जातक-कथाओ में सारिपुत्र की इन पूर्व-जन्मो में की हुई साधनाओ के वर्णन मिलते हैं। कभी सारिपुत्र वानर हुए थे, कभी सर्प और कभी ब्राह्मण-कुमार और इन सभी अवस्थाओ मे उन्होने प्राणी-मात्र की सेवा की थी। भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जातक' हिन्दी-अनुवाद मे ये कहानियाँ जहाँ-तहाँ अनुसन्धेय हैं।* उन सब के अन्त मे किसी-न-किसी प्रकार इस शैली के वाक्य आते हैं—"बुद्ध ने यह धर्म-देशना कह जातक का सारांश निकाल दिया। उस समय का प्रधान शिष्य अब का सारिपुत्र ही है, लेकिन महाब्रह्मा मै ही था।"† आदि। ये सब कथाएं इस तथ्य को दिखाती हैं कि सारिपुत्र की पूर्व-साधना की भिक्षु-संघ मे कितनी प्रतिष्ठा थी।

सारिपुत्र को भगवान् बुद्ध भिक्षु-धर्म का परम आदर्श मानते थे। एक बार तो भगवान् ने इतना तक कह दिया, "भिक्षुओ! यदि किसी के विषय मे यह ठीक से कहा जा सकता है कि 'इसे आर्य-शील मे स्वामित्व प्राप्त है, पारमिता प्राप्त है, आर्य समाधि मे स्वामित्व प्राप्त है, आर्य-प्रज्ञा मे स्वामित्व प्राप्त है, आर्य-विमुक्ति में स्वामित्व प्राप्त है, परिपूर्णता प्राप्त है,' तो केवल सारिपुत्र के विषय मे ही।"‡ इतना ही नहीं, "भिक्षुओ! यदि किसी के विषय मे यह ठीक से कहा जा सकता है कि 'यह मुख से उत्पन्न, धर्म से उत्पन्न, धर्म-निर्मित, धर्म-दायाद (धर्म का

---

* वैसे एक साथ इन सबकी सूची 'पालि डिक्शनरी ऑव प्रापर नेम्स' मे 'सारिपुत्त' शीर्षक के नीचे भी देखी जा सकती है।

† भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद।

‡ अनुपद सुत्तन्त (मज्झिम. ३।२।१),

वारिस) न-आमिष-दायाद (धनादि भोगो का उत्तराधिकारी नहीं) औरस (हृदय से उत्पन्न) पुत्र है, तो केवल सारिपुत्र के लिए ही ठीक है।' भिक्षुओ ! तथागत के द्वारा चलाए अद्वितीय धर्म-चक्र को सारिपुत्र ठीक से अनु-प्रवर्तित कर रहा है।" इससे अधिक प्रशंसा किसी भिक्षु की तथागत के द्वारा नही हो सकती थी। हम अनेक बार भगवान् बुद्ध को यह कहते सुनते हैं, "सारिपुत्र ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न है, तेरा छवि-वर्ण पर्यवदात है। सारिपुत्र ! आजकल तू किस विहार से अधिकतर विहर रहा है ?" और सारिपुत्र "भन्ते ! मै आजकल शून्यता-विहार से विहरता हूँ" ऐसा या अन्य कुछ उत्तर दे देते हैं। ये सब बातें दिखलाती हैं कि भगवान् बुद्ध सारिपुत्र की साधना का कितना अधिक मान करते थे। 'सच्चविभङ्गसुत्त' (मज्झिम ३।४।११) मे भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की सेवा करो, उनके पास जाओ। भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पण्डित है, सब्रह्मचारियो के अनुग्राहक हैं। भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन आर्य-सत्यो का विस्तार-पूर्वक व्याख्यान कर सकते हैं, प्रकाशन कर सकते हैं। भिक्षुओ ! जन्मदाता की तरह सारिपुत्र है। जन्मे को पोसने वाले की तरह मौद्गल्यायन।" 'महागोसिंगसुत्त' (मज्झिम १।४।२) मे भगवान् ने सारिपुत्र के चित्तसंयम की प्रशंसा की है और 'अनुपद सुत्तन्त' (मज्झिम ३।२।१) तो पूरा-का-पूरा ही सारिपुत्र की समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा में है।

भगवान् बुद्ध ने उरुवेला की भूमि में छः वर्ष कडी तपस्या की थी। इसलिए बाद मे उनकी पीठ मे वात-रोग उत्पन्न हो गया था। इससे वे लगातार सीधे नहीं बैठ सकते थे। उपदेश देते समय हम अक्सर उन्हे ऐसा कहते हुए देखते हैं, "सारिपुत्र ! इस समय भिक्षु आलस्य-प्रमादरहित हैं। सारिपुत्र, तू भिक्षुओं को धार्मिक कथा कह। मेरी पीठ मे दर्द है। मै लेटूँगा।"* सारिपुत्र भगवान् के उपदेश की

* देखिए विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ३६०

व्याख्या करने लग जाते है, जिसके अन्त मे कारुणिक शास्ता को बरबस यही कहना पडता है, "साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र !" सारिपुत्र के द्वारा उपदिष्ट दो अद्वितीय सुत्त दीघनिकाय के 'संगीति-परियाय-सुत' और 'दसुत्तर सुत्त' हैं जो बुद्ध-मन्तव्यो की बडी अच्छी सूची उपस्थित करते हैं। 'सङ्गीति-परियाय-सुत्त" के अन्त मे भी भगवान् ने यही कहा, "साधु सारिपुत्र! साधु सारिपुत्र! तूने अच्छा भिक्षुओ को एकता के ढंग का उपदेश (सङ्गीति-परियाय) दिया।" उपर्युक्त दो सुत्तो के अतिरिक्त 'मज्झिम निकाय' के अनङ्गणसुत्तन्त (१।१।५) सम्मादिट्ठि सुत्तन्त (१।१।९) और गुलिस्सानि-सुत्तन्त (२।२।९) मे भी सारिपुत्र के उपदेश सन्निहित है। मज्झिम-निकाय के ही 'सेवितब्ब-न-सेवितब्ब' सुत्तन्त मे भगवान् के द्वारा उपदिष्ट सेवनीय और अ-सेवनीय पदार्थों की सारिपुत्र ने व्याख्या की है। ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ भगवान् प्रश्न करते है और सारिपुत्र उनका उत्तर देते है। इनकी शैली प्रायः इस प्रकार की होती है, "सारिपुत्र! स्रोत-आपत्ति-अङ्ग, स्रोत-आपत्ति-अङ्ग कहा जाता है। सारिपुत्र! स्रोत-आपत्ति-अङ्ग क्या है?" और बाद मे "साधु सारिपुत्र! साधु सारिपुत्र!" आदि।* सारिपुत्र की उपदेश-कुशलता का वर्णन तथागत ने उस समय भी किया था जब सारिपुत्र ने भगवान् के उपस्थाक (शरीर-सेवक)- पद के लिए अपने को समर्पित करते हुए कहा था, "भन्ते! मैने तुम्हारी चाह से सौ हज़ार कल्पो से भी अधिक समय तक असंख्य पारमिताएँ पूरी कीं। मेरे ऐसा महाप्राज्ञ सेवक उपस्थित है। मैं सेवा करूँगा।" इसका उत्तर भगवान् ने यही कह कर दिया था, "नहीं सारिपुत्र! जिस दिशा से तू विहरता है, वह दिशा मुझसे अशून्य होती है। तेरा धर्म-उपदेश बुद्धों के धर्म-उपदेश के समान ही गम्भीर होता है।"† यह कहकर भगवान्

---

* सारिपुत्त सुत्त, संयुत्त-निकाय।

† बुद्धचर्या, पृष्ठ ३३६

ने सारिपुत्र जैसे महाज्ञानी की सेवा अपने लिए स्वीकार नहीं की थी। निश्चय ही सारिपुत्र के लिये भगवान् के हृदय में बडा आदर-भाव था। सारिपुत्र के व्यक्तित्व और उनके उपदेश की प्रभावशीलता का ही यह परिणाम था कि कौशाम्बी के कलह-प्रिय भिक्षुओ का निपटारा करने के लिए,* अश्वजित् और पुनर्वसु जैसे पापेच्छ भिक्षुओ के प्रव्राजनीय कर्म (संघ से बाहर निकाल देने का दण्ड) करने के लिए† तथा देवदत्त के द्वारा फोडे हुए भिक्षुओ को पुनः बौद्ध सङ्घ मे प्रविष्ट कराने के लिए‡, शास्ता ने विशेषतः सारिपुत्र को ही नियुक्त किया। ये सब कथाएँ त्रिपिटक मे यथास्थल देखी जा सकती है। भगवान् बुद्ध के द्वारा सारिपुत्र को महत्त्वपूर्ण विषयो पर दिये गए उपदेश विशेषतया अंगुत्तर-निकाय मे अनुसन्धेय हैं। स्वयं सारिपुत्र के वचनो का एक अच्छा संग्रह 'मिलिन्द-प्रश्न' मे मिलता है।

भगवान् बुद्ध सारिपुत्र के केवल प्रशंसक ही न थे, वह उन पर शासन भी करने वाले थे। एक बार कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु, जो सारिपुत्र की अध्यक्षता मे थे, शोर मचा रहे थे। शास्ता को वह बिल्कुल पसन्द नहीं था। उन्होने उन्हे बाहर निकल जाने को कहा। सारिपुत्र इसे न समझ सके और वे भी बाहर चले गए। बाद मे शास्ता ने उन्हे बुलवा लिया और जब उन्होने सारिपुत्र से पूछा कि यह सब उन्हे कैसा लगा तो सारिपुत्र ने कहा, " भन्ते ! मुझे ऐसा लगा कि भगवान् भिक्षु संघ को निकाल कर अब निश्चिन्त हो जीवन में सुखपूर्वक विहार करेंगे और हम भी अब दृष्ट-धर्म सुख से युक्त हो विहरेंगे।" शास्ता ने प्रेम-विवश वाणी से कहा, "ठहर सारिपुत्र ! ठहर सारिपुत्र ! फिर ऐसा विचार मन मे न लाना।" मौद्गल्यायन से भी जब ऐसा ही पूछा तो उन्होने

---

* देखिए, विनय-पिटक, महावग्ग, पृष्ठ ३३४-३५

† देखिए, विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ३५१-५२

‡ देखिए, विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४८३-६०

कहा, ' भन्ते ! मुझे ऐसा लगा था कि भगवान् ने भिक्षु-संघ को निकाल दिया। अब आयुष्मान् सारिपुत्र और मैं ही संघ को धारण करेंगे।" शास्ता ने मौद्गल्यायन के उत्तर का अनुमोदन करते हुए कहा, "साधु मौद्गल्यायन ! साधु मौद्गल्यायन ! चाहे भिक्षु-संघ को मै धारण करूं, चाहे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, एक ही बात है*" । यहां तथागत के तात्पर्य को सारिपुत्र की अपेक्षा मौद्गल्यायन ही अधिक ठीक तरह जान सके। एक दूसरी बार शास्ता ने सारिपुत्र को झिड़का जब उन्होंने राहुल को, जो उनकी देख-रेख मे छोड दिये गए थे, ठीक तरह से रखने मे कुछ असावधानी कर दी थी । वैसे शास्ता का सारिपुत्र पर अगाध प्रेम था, जैसा कि सम्यक् सम्बुद्ध का किसी भी प्राणी पर हो सकता था। सारिपुत्र ने ही भगवान् की समदर्शिता की गवाही देते हुए कहा है, "अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अंगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और पुत्र राहुल के प्रति, सभी के प्रति मुनि समान थे।"† सारिपुत्र ने कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से शास्ता की बड़ी सेवा की। यद्यपि भगवान् बुद्ध की सेवा का भार विशेषतः आनन्द पर था और उन्होंने इसे अच्छी तरह निभाया भी, पर सारिपुत्र भी इस बात मे बड़े सजग रहते थे। सारिपुत्र का यह दृढ विश्वास था कि "मार-सेना को दमन करने वाले एक बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखना, एकमात्र उनकी शरण मे जाना और उनको प्रणाम करना, भव-सागर से तार सकता है।"‡ उनका ही यह उदार सिंहनाद था कि बुद्ध जैसा अद्भुत पुरुष न तो अब तक-

---

* चातुम-सुत्तन्त (मज्झिम २।२।७) यह कथा सुत्त-निपात के धनिय-सुत्त (१–२–२) मे भी आती है। देखिए मिलिन्द-प्रश्न पृष्ठ २२७-२८

† मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५०१ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

‡ मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ २९६

संसार में हुआ है और न होगा।" * यद्यपि इस प्रकार के उद्गार को स्वयं शास्ता ने कुछ महत्त्व नहीं दिया और इसे सारिपुत्र की अल्पज्ञता ही माना; किन्तु आजतक के इतिहास ने सारिपुत्र के कथन को झूठा साबित नहीं किया है। आज भी हम 'बुद्ध' को संसार के इतिहास का सबसे बडा नाम मानते हैं।

सारिपुत्र का अपने गुरु-भाइयो के प्रति भी अत्यन्त स्नेह और उदारता का बर्ताव था। होता भी क्यो नही? "यदि आज ही प्रव्रजित हुआ सात वर्ष का श्रामणेर भी हो और वह भी मुझे कुछ सिखावे तो मे सहर्ष स्वीकार करूंगा। बडे आवभगत से मै उसका दर्शन कर उसका स्वागत करूंगा। बारबार अपने आचाय के स्थान पर उसे सत्कार-पूर्वक बैठाऊंगा—" † ऐसी उनकी उदार भावना थी। एक बार की बात है कि सारिपुत्र कुछ असावधानी से चले जा रहे थे और उनका वस्त्र नीचे जमीन पर लटक रहा था। झट एक नव-आगन्तुक भिक्षु ने ताना मारते हुए महास्थविर को स्मरण कराया कि उनका वस्त्र ऊंचा होना चाहिए। सारिपुत्र ने भिक्षु को धन्यवाद दिया कि उसने उनकी गलती उन्हें सुझा दी और वस्त्र ठीक कर लिया। महामौद्गल्यायन के अतिरिक्त आनन्द से भी सारिपुत्र की बड़ी घनिष्ठता थी। आनन्द का भी सारिपुत्र के प्रति अपार आदर था। दोनो के अनेक धार्मिक संलाप सुत्त पिटक मे लेखबद्ध है। संयुत्त-निकाय के सारिपुत्त-संयुत्त मे आनन्द ने धर्मसेनापति से पूछा है कि उन्होंने अपने चित्त को शान्त कैसे किया है? इसका उत्तर देते हुए सारिपुत्र ने कहा है, "एकान्तवास से उत्पन्न सुख और सौमनस्य (मन की प्रसन्नता) से युक्त प्रथम ध्यान मे स्थित

* विस्तार के लिए देखिए, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३)

† सारिपुत्र-वचन, मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४८७ मे उद्धृत (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

हो कर 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचार को त्याग कर मैने अपनी इन्द्रियो को शमित किया है।" राहुल सारिपुत्र की देखरेख मे ही भगवान् के द्वारा छोड दिये गए थे। राहुल को प्रव्रजित भी सारिपुत्र ने ही किया था। राहुल-माता के प्रति भी सारिपुत्र की बडी गहरी निष्ठा थी। एक बार जब वह बीमार पडी तो राहुल ने उनकी दवा-दारू के विषय मे सारिपुत्र से सलाह ली थी और सारिपुत्र ने कही से आम का रस लाकर उन्हें दिया था, जिससे उनकी पीडा शान्त हुई थी। गृहस्थ शिष्यो मे अनाथपिण्डिक से सारिपुत्र का घनिष्ठ स्नेह था और जिस समय यह गृहस्थ साधक मरण-शय्या पर पडा हुआ था, सारिपुत्र ने उसके पास जाकर उसे अनासक्ति-योग का उपदेश दिया था, जो 'अनाथ पिण्डिकोवाद सुत्तन्त' (मज्झिम-३।५।१) मे निहित है। उसे सुनकर इस मरणासन्न व्यक्ति के चित्त को बहुत शान्ति और स्फूर्ति मिली थी। अपने से छोटे भिक्षुओं के प्रति सारिपुत्र बहुत प्रेम रखते थे, उन्हें ऊंची अवस्था प्राप्त करने के लिए सदा उत्साहित किया करते थे और उनकी सफलता देखकर प्रसन्नता प्रकट किया करते थे। यह बात नहीं है कि सारिपुत्र से कोई द्वेष करने वाला ही न हो। ऐसे भी भिक्षु थे जो सारिपुत्र से भी द्वेष रखते थे, किन्तु सारिपुत्र ने तो उन सबसे प्रेम ही किया। देवदत्त जैसे दुर्बुद्धि भिक्षु के भी गुणो का स्मरण करना सारिपुत्र नही भूलते थे। वह सबके ही गुण ग्रहण करने वाले थे। भिक्षु-संघ के अनेक भिक्षुओ के प्रति सारिपुत्र के मार्ग-प्रदर्शन और उपदेश आदि के विवरण दिये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ हम केवल सारिपुत्र के द्वारा दिये हुए उस उपदेश के ही कतिपय अंश उद्धृत करेंगे जो उन्होंने आत्महत्या करने पर तुले हुए छन्न नामक भिक्षु को दिये थे। छन्न भिक्षु बहुत बीमार पड गया था और वह आत्महत्या करना चाहता था। सारिपुत्र ने उसके पास जाकर कहा—

"आवुस छन्न! अच्छी तरह से तो हो? काल-यापन तो हो रहा

है ? दुःख-वेदनाएँ हट तो रही हैं, लौट तो नही रही ? व्याधि का हटना तो मालूम हो रहा है, लौटना तो मालूम नही हो रहा ?"

"आवुस ! सारिपुत्र ! मेरी दशा ठीक नहीं है। अत्यधिक दाह हो रहा है। आवुस ! सारिपुत्र ! मै बेचैन हूँ। आवुस सारिपुत्र ! मैं आत्महत्या करूंगा। मै जीना नही चाहता।"

"आयुष्मान् छन्न ! आत्महत्या न करें। गुजार दें, आयुष्मान् छन्न ! हम आयुष्मान् छन्न को गुजारते देखना चाहते है। यदि आयुष्मान् छन्न को अनुकूल भोजन नही है तो मै अनुकूल भोजन खोज लाऊंगा। यदि आयुष्मान् छन्न को अनुकूल औषध प्राप्त नहीं है तो मै औषध ले आऊंगा। यदि आयुष्मान् छन्न की योग्य सेवा करने वाला नहीं है तो मै आयुष्मान् छन्न की सेवा करूंगा। आयुष्मान् छन्न आत्म-हत्या न करे।" * ये वाक्य पूरे सारिपुत्र को हमारे सामने रख देते हैं। यहाँ कोरी आदर्शवादिता नहीं थी, किन्तु दुःखी मानवता की सेवा करने की क्रियात्मक साधना थी। इन पंक्तियो की गम्भीरता गौतम बुद्ध के प्रधान शिष्य के अनुकूल ही है। कहानी को पूरी रखते हुए कहना पडता है कि छन्न ने सारिपुत्र के आदेश को नही माना और बाद मे आत्महत्या कर ली।

इसी दुःखमय घटना के साथ हम सारिपुत्र के अन्तिम जीवन की ओर भी मुडते है। कदाचित् यह अधिक करुणा की नदी बहाना कहा जाय, पर इससे जीवन मे बचना कहाँ है ! सारिपुत्र ने जिस शान्त भाव से, पूर्ण अनासक्ति के साथ, शरीर से सम्बन्ध छोडा, वह अपनी गम्भीरता मे तथागत के महापरिनिर्वाण से किसी प्रकार कम नही है। मगध मे नालक ग्राम मे रोगग्रस्त होने पर सारिपुत्रने श्रावस्ती मे जाकर भगवान् से निवेदन किया—

"भन्ते ! भगवान् अनुज्ञा दें। सुगत अनुज्ञा दें, मेरा परिनिर्वाण

* छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२),

काल है। आयु-संस्कार समाप्त हो चुका।"

कहाँ परिनिर्वाण करोगे ?"

"भन्ते ! मगध देश में नालक ग्राम में जन्म-गृह है। वहाँ परि-निर्वाण करूंगा।"

"सारिपुत्र ! जिसका तू काल समझे, वैसा कर" (यस्स दानि त्वं सारिपुत्त कालं मञ्ञसीति) स्थविर ने रक्तवर्ण हाथों को फैलाकर शास्ता के चरणो को पकड कर कहा—

"भन्ते ! इन चरणो की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पों से अधिक कालतक मैने असंख्य पारमिताएँ पूरी कीं। वह मेरा मनोरथ आज सिर तक पहुँच गया। अब आपके साथ फिर जन्म लेकर एक स्थान मे एकत्रित होना नही है। अब यह विश्वास छिन्न हो चुका। अनेक शत-सहस्र बुद्धों के प्रवेश-स्थान, अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय निर्वाण-पुर जाऊँगा। यदि मेरा कोई कायिक या वाचिक कर्म भगवान् को न रुचा हो तो मुझे क्षमा करें। मेरा जाने का समय है।"

"सारिपुत्र ! तुझे क्षमा करता हूँ। तेरा कुछ भी कायिक या वाचिक कर्म ऐसा नहीं है जो मुझे नापसन्द हो। अब तू सारिपुत्र ! जैसा उचित समझे कर।"*

सारिपुत्र के चलते समय शास्ता भी धर्म-सेनापति के सम्मान के लिए उठकर गन्धकुटी के सामने जा खडे हुए।

सारिपुत्र ने भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर, चार अङ्गों से वन्दना की—

"भगवन् ! आज से असंख्य हजार कल्प से अधिक समय तक अनोमदर्शी बुद्ध के पादमूल मे बैठकर मैंने तुम्हारे दर्शन की प्रार्थना की थी। वह मेरी प्रार्थना पूरी हुई। तुम्हे देख लिया। वह तुम्हारा प्रथम

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१३

दर्शन था, यह अन्तिम दर्शन। अब फिर तुम्हारा दर्शन नहीं होगा।"*

यह कह हाथ जोड़कर जब तक भगवान् नजर के सामने थे, बिना पीठ दिखाये, सामने मुख रखते ही चलकर, वन्दना कर, सारिपुत्र चल दिये। भिक्षु बिलखते हुए चिल्लाने लगे, "स्थविर! किसके हाथ में शास्ता को सौंप कर जा रहे हो?" सारिपुत्र का उनके लिए यही अन्तिम सन्देश था, "सबको ही यह गन्तव्य मार्ग है। आवुसो! दशबल (बुद्ध) के विषय मे लापरवाही मत करना।" प्यारे शास्ता और प्यारे सब्रह्मचारियो, आनन्द और मौद्गल्यायन सभी को छोड़कर सारिपुत्र चल दिए। कुछ भिक्षु उनके साथ भी गए।

नालक ग्राम के दरवाजे पर पहुँचते ही उन्हे उपरेवत (सारिपुत्र के भानजे) मिले। चुन्द समणुद्देस भी, जो सारिपुत्र के छोटे भाई थे, सारिपुत्र के साथ ही थे। सारिपुत्र की माता ने उन्हें आता हुआ देखकर समझा कि मेरा बेटा अब बुढापे मे गृहस्थी बसाने की इच्छा से फिर गॉव मे लौट कर आया है। बुढिया बडी प्रसन्न हुई। नाना प्रकार की तैयारियाँ करने लगी, किन्तु जब उसे ठीक बात मालूम हुई तो वह सारिपुत्र से बोली तक नही। एक अलग कमरे में जाकर बैठ गई; परन्तु सारिपुत्र के दिव्यशक्ति-प्रदर्शन से उसे बुद्ध के विषय मे श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारिपुत्र ने समझा कि माता के प्रति मैंने अपना ऋण चुका दिया। "मैंने माता रूपसारि ब्राह्मणी को पोसने का दाम चुका दिया, इतने से वह निर्वाह कर लेगी।"† स्थविर सारिपुत्र को खून गिरने की सख्त बीमारी पैदा हुई, और उन्होंने अपने छोटे भाई चुन्द समणुद्देस से पूछा, "समय क्या है?" उत्तर मिला, "बहुत तड़के का समय है, पौ फटना ही चाहती है।"

"भिक्षु-संघ को जमा करो।"

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१४

† बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१५

सारिपुत्र ने विज्ञापित किया—

"आवुसो ! तुम्हे मेरे साथ विचरते चवालीस वर्ष हो गए, जो कोई मेरा कायिक या वाचिक कर्म तुम्हे अरुचिकर हुआ हो, आवुसो ! उसे क्षमा करो।"

"भन्ते ! इतने समय तक आपको छाया की भाँति बिना छोड़े विचरते, हमे अरुचिकर कुछ भी नही हुआ; किन्तु आप हमारे दोषो को क्षमा करें।"* साथी भिक्षुओ ने कहा।

महास्थविर ने वस्त्र से अपने मुख को ढँक लिया और दाहिने करवट से लेट गए। अपने शास्ता की तरह ही उन्होंने नौ समापत्तियों (ध्यानो) मे प्रवेश किया। प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ ध्यान पर्यन्त ध्यान लगाया। उस चतुर्थ ध्यान से उठने के बाद ही परिनिर्वाण को प्राप्त होगए। "मेरा पुत्र कुछ बोलता क्यो नहीं है ?" माता रूपसारि अपने रुँधे हुए गले से कहने लगीं और फिर "तात ! पहले हमने तुम्हारे गुणो को नहीं जाना" कहकर रोने लगी। सारिपुत्र ने शान्त, मंगलमय पद (निर्वाण) मे प्रवेश किया।

सारिपुत्र का परिनिर्वाण कार्तिक मास की पूर्णिमा को हुआ। चुन्द समणुद्देस ने उनकी दाह-क्रिया की और उनके वस्त्र, भिक्षा-पात्र और अस्थियो (धातुओ) को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आए। अस्थियो को हाथ मे लेकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

"भिक्षुओ ! महाप्रज्ञावान् यह भिक्षु था, अल्पेच्छ यह भिक्षु था, सन्तुष्ट, एकान्त-प्रेमी, उद्योगी, पाप-निन्दक यह भिक्षु था। देखो भिक्षुओ ! महाप्राज्ञ की इन धातुओ को ! क्षमा-बल मे वह पृथ्वी के समान हो कर कभी कुपित नहीं होता था, न इच्छाओं के वशवर्ती होता था, वह अनुकंपक, कारुणिक, निर्वाण को प्राप्त होगया। भिक्षुओ ! निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१६

"जो पाँच सौ जन्मों तक मनोरम भोगों को छोड़ कर प्रव्रजित होता रहा, उस वीत-राग, जितेन्द्रिय, निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।

"जैसे टूटे सींगों वाला सॉड, नगर के भीतर बिना किसी को मारते विचरता है, वैसे ही यह सारिपुत्र विचरता था। भिक्षुओ! निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो!

"भिक्षुओ! जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसके सारवाले महास्कन्ध (शाखाएं) टूट जाएं, इसी प्रकार भिक्षुओ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सारवाले सारिपुत्र का परिनिर्वाण है। पर आश्चर्य है भिक्षुओ! अद्भुत है भिक्षुओ! तथागत को शोक-परिदेव नहीं है। भिक्षुओ! वह कहां से मिले जो जात, भूत, संस्कृत है। इसलिए भिक्षुओ! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य-शरण होकर विहरो।"* सारिपुत्र की अस्थियों को स्थापित कर कालपिनाक नामक नगर मे स्तूप बनाया गया जिसे बाद मे पाँचवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री यून च्वांग ने देखा था।

शास्ता परमज्ञानी थे, इसलिए दुःख को दबा गए, पर आनन्द अपने को सँभाल नही सकते थे। भिक्षु-संघ के लिए सारिपुत्र का परिनिर्वाण एक गहरी वेदना की चोट थी। मौद्गल्यायन ने पन्द्रह दिन बाद ही उनका अनुगमन किया और शास्ता के आयु-संस्कार समाप्त होने मे अभी छह महीने और शेष थे।

सम्यक् सम्बुद्ध के सबसे बड़े शिष्य की यह संक्षिप्त-सी जीवन-स्मृति है। निश्चय ही सारिपुत्र जैसे साधकों को लक्ष्यकर ही भगवान् ने कहा था, "यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं तं मम सावका जीवित हेतु पि नातिक्कमन्ति।† "जो सदाचार-नियम मैंने अपने

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१७–१८

† अगुत्तर निकाय, जिल्द चौथी पृष्ठ २०१ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण), विसुद्धि-मग्ग १।६८ में उद्धृत (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी-का संस्करण)

शिष्यों को प्रज्ञप्त किये हैं, उनका वे कभी अपने प्राणों के लिए भी अतिक्रमण नहीं करते।" सारिपुत्र का अनिन्दित जीवन शास्ता को देखने का भी वास्तव मे एक स्वच्छ, अनाविल दर्पण है, और उनके अपूर्व शील, समाधि और प्रज्ञा से स्फीत जीवन और अलमार्य-ज्ञान-दर्शन को देखकर आज भी यदि कोई साधक कहे 'पटिपादेसि मे मग्गं तव जाणेन,चक्खुमा' (चक्षुष्मान् बुद्ध ने भी तुम्हारे ही ज्ञान के द्वारा मुझे मार्ग पर प्रतिष्ठित किया) तो यह अतिशयोक्ति नहीं मानी जा सकती। सारिपुत्र ने ही हमे सबसे पहले बताया है कि शास्ता का 'धम्म' जीवन का एक 'मार्ग' ('मग्ग') मात्र था, निर्वाण की प्राप्ति का एक 'उपाय' मात्र था, मानसिक आयासो का साधन नहीं। इसीलिए तो बुद्ध-मन्तव्य का विवेचन करने वाले नागसेन और बुद्धघोष जैसे महास्थविरों ने भी बार-बार 'भासितं पेतं थेरेन सारिपुत्तेन धम्मसेनापतिना' 'वुत्तं पेतं थेरेन सारिपुत्तेन धम्मसेनापतिना' आदि रूप से सारिपुत्र के वचनों की ही दुहाई दी। पर बहुत से भी क्या, हे सारिपुत्र! हे रूपसारिसम्भव, अज्ञात, अल्पेच्छ, महासाधक! इन सब प्रशंसात्मक साक्ष्यों की भी तुझे क्या अपेक्षा, जब स्वयं विश्व के शास्ता ने ही, जिसमे तेरी अपार श्रद्धा थी, तुझे धर्म का सेनापति बनाया! माता रूपसारि के गर्भ मे सोने के बाद, हे 'अपगर्भ' अन्य माता की कोख मे 'विज्ञान' (चित्त-धारा, जीव) बनकर तुम्हारा आना नहीं हुआ। अनुपाधि-शेष-निर्वाण-धातु को प्राप्त कर तुम सदा ही विमुक्त और सबसे परे हो। पर फिर भी केवल हमारे कल्याण के लिए, हे धर्मसेनापते! हमारा प्रणाम स्वीकार करो—"भिक्षुओ! सारिपुत्र की वन्दना करो।"

: ५ :

आनन्द

आनन्द भगवान् बुद्धदेव के प्रधान शिष्यों में से थे। आनन्द को भगवान् के उपस्थाक (उपट्ठाक) या शरीर-सेवक होने का पद प्राप्त था। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्यो मे आनन्द को सबसे अधिक उनके समीप रहने का अवसर मिला। चिर-काल तक आनन्द को तथागत की सेवा का सुयोग मिला। यह आनन्द के जीवन की एक बडी कृत-कृत्यता थी। बुद्ध-मात्र स्वयं परम शुश्रूषक होते हैं। वे देवताओ तक की सेवा को स्वीकार नहीं करते; पर साधक उनकी चाकरी मे रह अपनी साधना की परिपूर्णता अवश्य देखते हैं। तथागत की दिनचर्या में लगनपूर्वक सहायता देकर, दशबल की बडी आत्मीयता-पूर्वक सेवा-उपचर्या कर, स्थविर आनन्द आगे आने वाली पीढियों के लिए निश्चय ही एक अपूर्व स्मृति छोड गए हैं।

बौद्ध पालि-ग्रन्थो से पता लगता है कि आनन्द वास्तव मे आनन्द-मूर्ति थे। "सौम्य ! तेरा मुख तो ब्रह्मवेत्ता के समान ही चमकता है"—यह उपनिषद्-वाणी आनन्द के विषय मे सदा ही कही जा सकती थी। शरीर की सौम्यता में वे अद्वितीय थे और स्वभाव के थे बडे मृदु। मनुष्यता तो उनके स्वभाव की सबसे बडी विशेषता थी। आनन्द को भिक्षु-संघ 'धर्मभाण्डागारिक' (धम्मभण्डागारिक) अर्थात् 'धर्म का भण्डारी' कह कर पुकारता था। इसमे कुछ-न-कुछ विनोद तो था ही, साथ ही आनन्द का विशिष्ट महत्त्व भी अङ्कित था। आनन्द बहुश्रुत थे, पण्डित थे। भगवान् बुद्ध के सतत साथी होने के नाते बुद्ध-वचन

सबसे अधिक उन्हींने सुने थे और उन्हें अपनी स्मृति मे सुरक्षित भी रक्खा था। कहा जाता है कि आनन्द की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज़ थी। जो कुछ भगवान् बुद्ध बोलते थे, वह उसको याद कर लेते थे। एक से लेकर साठ हजार शब्दों तक, ठीक क्रम से, बिना एक अक्षर भी छोडे हुए, वे कंठस्थ कर लेते थे। एक ही बार साठ हजार पंक्तियों की पन्द्रह हज़ार गाथाओं (श्लोकों) को भी सुनकर आनन्द याद कर लेते थे। इसी कारण सम्भवतः भगवान् बुद्ध ने उन्हे अपने स्मृतिमान् और बहुश्रुत भिक्षु-शिष्यों में प्रधान कहा था, "भिक्षुओ! मेरे बहुश्रुत, स्मृतिमान्, गतिमान् और धृतिमान् भिक्षु-शिष्यों में यह आनन्द ही सर्वश्रेष्ठ है।" परन्तु केवल स्मृतिमान् और बहुश्रुत होने से ही बौद्ध संघ मे विशेष आदर नहीं हो सकता था ? इसीलिए बौद्ध सघ ने आनन्द को 'धर्म का भण्डारी' कहा था, जबकि सारिपुत्र को उन्होने 'धर्म का सेनापति' कहा। आनन्द में 'धर्मभाण्डागारिक' होने के अलावा अनेक विशेष गुण थे, किन्तु विपश्यना मे वे उतने बडे-चढ़े नहीं थे, जितने सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप या भगवान् बुद्ध के अन्य कई शिष्य। जबकि सारिपुत्र धर्म और ज्ञान का स्वामित्व करते थे, जीवन मे प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर विहरते थे, तो आनन्द लगे थे विशेषतः उसके भण्डार को अपने स्मृति रूपी आगार मे सञ्चय करने में। इसीलिए हम कहते हैं कि सारिपुत्र यदि 'धर्मसेनापति' थे तो आनन्द 'धर्मभाण्डागारिक'; पर इसका भी एक महत्त्व था, जैसा हम आगे देखेंगे। जहाँ 'धर्म' (सत्य, ऋत, विश्व-नियम) रूपी राजा का कोई सेनापति हो, वहां उसके विशाल भण्डार को रखने वाला, और रखने वाला ही क्यो, बडी सावधानी और ईमानदारी के साथ उस थाती को भावी पीढी के लिए देने वाला भी, उदार और चतुर भण्डारी कोई होना ही चाहिए। आनन्द ही 'धर्मराज' (बुद्ध) के भण्डारी थे।

आनन्द शाक्यवंशीय क्षत्रिय थे। अतः कहना चाहिए कि भगवान्

के सगोत्र ही थे। सगोत्र ही क्यो, इससे भी अधिक वे भगवान् के साथ सम्बन्धित थे। कपिलवस्तु मे शुद्धोदन के छोटे भाई अमृतौदन शाक्य के आनन्द पुत्र थे। अतः रिश्ते मे वह भगवान् बुद्ध के चचेरे भाई थे। भगवान् बुद्ध के लिए तो इन रिश्तो का मूल्य ही क्या हो सकता था? सम्पूर्ण प्राणि-जगत् ही उनकी करुणा का समान रूप से भागी था। चाहे आनन्द हो, चाहे चाण्डाल-पुत्र, चाहे सारिपुत्र हो, चाहे आततायी अंगुलिमाल, समदर्शी मुनि की कृपा के तो समान रूप से ही भाजन थे; किन्तु शाक्य लोग तो फिर भी अपने को परम सौभाग्यवान् मानते थे। प्रसेनजित् तो कोशल का था। फिर भी "भगवान् क्षत्रिय हैं, मै भी क्षत्रिय हूं। भगवान् कोशलक (कोशल-वासी) है, मै भी कोशलक हूँ"—इतने से ही अपने को धन्य समझता था। फिर शाक्यों का तो कहना ही क्या? परन्तु शाक्य लोग स्वभाव से क्रोधी भी थे, अभिमानी भी थे। अभिमान, कभी-कभी मिथ्या अभिमान भी, उनके स्वभाव की एक बडी कमजोरी थी। हम जानते हैं कि रोहिणी नदी के बाँधवाले मामले पर तो उनके अपने पडोसी कोलिय क्षत्रियो से सिर-फुटौवल की नौबत आगई थी। जातिवाद का अभिमान भी इन क्षत्रियो में बहुत अधिक था। 'आर्य-वंश' की परम्परा के अनुसार, जब सम्यक् सम्बुद्ध पहली बार कपिलवस्तु आने पर, हाथ मे भिक्षा-पात्र लेकर भिक्षा के लिए निकले थे, तो हम उनके अभिमानी पिता के वास्तविक क्लेश को समझ सकते हैं। 'आर्यवंश' (ज्ञानियो के वंश) की परम्परा यह भले ही रही हो, पर शाक्य-वंश की यह परम्परा नहीं थी। यह वीर इक्ष्वाकुओं का वंश था, जो अपने कुल पर वास्तविक अभिमान कर सकता था; पर तथागत के गौरव ने तो इस जातिवाद के अभिमान को प्रथम दर्शन में ही न जाने कहां विलीन कर दिया, यह हम शाक्यकुमार आनन्द की प्रव्रज्या के प्रसंग में भली प्रकार देखते हैं।

बुद्धत्व प्राप्त करने के दूसरे वर्ष भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के समीप अनूपिया नामक कस्बे में उपदेश कर रहे है। शाक्यकुमारो ने भी उनके

विषय मे सुना है और उनमे भी अपने जीवन को सार्थक करने की इच्छा का उदय हुआ है। छः शाक्यकुमार, भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त, जिस किसी प्रकार अपने माता-पिताओ से आज्ञा लेकर भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे हैं। साथ मे उनके अपना एक नाई भी है, जो प्रेम और स्वामिभक्ति के कारण अपने स्वामि-पुत्रो के साथ ही चला आया है। शाक्यकुमारो ने इस नाई को अपने सब आभूषण और द्रव्य आदि देकर लौटाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन सभी आभूषणो और द्रव्य को एक वृत्त पर लटका कर "जो देखे, उसको दिया, ले जाय" यह घोषणा कर यह आप्तकाम नाई फिर अपने स्वामिपुत्रों के साथ ही बुद्ध के समीप आ गया। बुद्ध-उपदेश को सुनकर शाक्यकुमारो को बुद्ध-शासन मे रहकर प्राणि-मात्र की सेवा करने की इच्छा जाग पडती है। इसके सबसे बडे बाधक जातिवाद के बन्धन को ही वे सबसे पहले तोडते है। जातिवाद के लिए सबसे पहला प्रायश्चित्त हमारे देश के इतिहास मे शाक्यकुमार ही करते है—"भन्ते! हम शाक्य अभिमानी होते हैं। यह उपालि नाई चिर-काल तक हमारा सेवक रहा है। इसे भगवान् पहले प्रव्रजित कराएँ, ताकि हम इसका अभिवादन करें, प्रत्युत्थान करें, इसके सम्मानार्थ खडे हो, इसके हाथ जोडे, इसकी वन्दना करें। इस प्रकार हम शाक्यो का शाक्य होने का अभिमान मर्दित होगा।"* भगवान् ने पहले उपालि नाई को ही प्रव्रजित कराया। बाद में उन शाक्यकुमारों की प्रव्रज्या हुई, जिनमें आनन्द भी एक थे।

आनन्द आदि शाक्यपुत्रो का संन्यास हमारे इतिहास की एक स्मरणीय और समस्योत्पादक घटना है। यह उस प्रवृत्ति की प्रथम परिचायिका है, जिसके वशीभूत होकर ब्राह्मणेतर जातियों ने भी, विशेषतः क्षत्रियों ने, संन्यास-ग्रहण शुरू कर दिया और धर्मोपदेश

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ६१

भी करने लगे। इससे पहले विधिवत् संन्यास-ग्रहण पर तो ब्राह्मणो का ही एकाधिकार था। बुद्ध ने इस एकाधिकार को मिटाया। नतीजा यह हुआ कि कुमारिल जैसे कट्टर वेदवादियों ने इसके लिए उन्हें कभी क्षमा नहीं किया। उन्हें क्षात्र धर्म से पतित माना। किन्तु आनन्द आदि साधको ने क्षात्र धर्म का परित्याग किया, ऐसा नही कहा जा सकता। वास्तव में तो उन्होंने अपने शास्ता से असली क्षात्र-धर्म को ही सीखा, अर्थात् मानवता के घावो को पूरने का धर्म, जिसके अधिक अच्छे साधन हैं—मैत्री, सेवा और करुणा न कि शस्त्र-ग्रहण। काषाय वस्त्र पहनने वाले बुद्ध और 'वैदेह मुनि' (ऐसा भी एक जगह आनन्द को कहा गया है) आनन्द हमारे लिए एक आदर्श क्षत्रिय ही हैं। उनसे हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन को जो ज्योति मिली है, उसके मूल्य का ठीक अनुमापन नहीं किया जा सकता।

बुद्धत्व प्राप्ति के बीस वर्ष बाद तक अनेक भिक्षु भगवान् बुद्ध की सेवा करते रहे। इस बीच जिन भिक्षुओ ने भगवान् की सेवा की उनके नाम हैं, नागसमाल, नागित, उपवाण, सुनक्षत्र, चुन्द समणुद्देस, स्वागत, राध और मेघिय। कहना ही पडता है कि इन भिक्षुओं की सेवा से भगवान् विशेष प्रसन्न नहीं थे। उन्हें खिन्न होकर एक बार कहना ही पडा, "भिक्षुओ! अब मैं वृद्ध हूँ। किन्हीं-किन्हीं भिक्षुओं से कहता हूँ कि इस रास्ते से चलो, तो वे दूसरे ही रास्ते से चले जाते है। कोई-कोई तो मेरे भिक्षा-पात्र और वस्त्रों को ही भूमि पर रख कर चले जाते है। भिक्षुओ! मेरे लिए एक नियत परिचारक (उपस्थाक) खोजो।" यह सुनकर भिक्षुओ को खेद हुआ। सबसे पहले सारिपुत्र ने उठकर, भगवान् की वन्दना कर अपनी सेवाएं अर्पित कीं, किन्तु भगवान् ने इसे उचित नहीं समझा। इसी प्रकार भगवान् ने अपने अन्य शिष्यो की सेवाओ को अस्वीकार कर दिया। आनन्द तो चुपचाप बैठे ही रहे। उन्होने अपने आपको

समर्पित ही नहीं किया। कुछ भिक्षुओ ने उनसे कहा, "आवुस। भिक्षु-संघ उपस्थाक-पद माँग रहा है, तुम भी माँगो।" स्वाभिमानी आनन्द का केवल यही उत्तर था, "आवुसो! माँगकर स्थान पाया तो क्या पाया? क्या भगवान् मुझे देख नहीं रहे हैं? यदि चाहेंगे तो स्वयं ही कहेंगे—"आनन्द! मेरी सेवा कर।" भगवान् हृदय की बात जानते थे। बोले, "भिक्षुओ! आनन्द को उपस्थाक-पद-याचना करने के लिए बाध्य न करो। वह स्वयं ही जानकर मेरी सेवा करेगा।" अब तो भिक्षुओं की भी बन आई। बोले "उठो आवुस आनन्द! अब तो दशबल से उपस्थाक-पद माँगो।" पर आनन्द तो अपने कर्म और अधिकारो को अच्छी तरह जानते थे और आत्म-गौरव में भी वे क्या कम थे? झट अपनी शर्तें पेश कर दी। पहले उन्होंने तथागत से चार निषेधात्मक अधिकार (प्रतिक्षेप) माँगे जिनकी प्राप्ति पर ही वे उनके सेवक नियत हो सकते थे। "(१) यदि भगवान् अपने पाए हुए उत्तम वस्त्र मुझे न दें (२) उत्तम भोजन मुझे न दें (३) गन्ध-कुटी में निवास न दें और (४) साथ निमन्त्रण मे लेकर न जायँ, तो मैं नियत सेवक हो सकता हूं।" इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द की आत्म-गौरव-भावना कितनी बढी हुई और उदात्त थी, वे कितने निःस्पृह और शानदार व्यक्ति थे जो तथागत के गौरव से ही स्वयं गौरवान्वित नहीं होना चाहते थे, किन्तु अपनी भी कुछ विशिष्ट महत्ता रखते थे और साथ ही तथागत मे कितने अनन्य भाव से अनुरक्त भी थे। चार बातें आनन्द ने और भी शर्तों के रूप मे भगवान् के सामने रक्खी "(१) जिस निमन्त्रण को मैं भगवान् के लिए स्वीकार कर लूँगा उसमें आपको जाना होगा (२) जो आदमी दूसरे राष्ट्र या जनपद से आपके दर्शनो के लिए आयेंगे, उन्हें जिस समय चाहूँगा आपसे मिलवा सकूँगा (३) जब भी मैं चाहूँगा आपके पास आ सकूँगा, और (४) मेरी अनुपस्थिति मे जो भी धर्मोपदेश आप जहाँ

कहीं देंगे उसे आकर मुझे भी अवश्य सुनाना होगा।" कहने की आवश्यकता नहीं की भगवान् को ये सब शर्तें स्वीकार करनी ही पड़ीं। इस समय से लेकर भगवान् के महापरिनिर्वाण के समय तक, अर्थात् ठीक पच्चीस वर्ष तक छाया की तरह अनुगमन करते हुए आनन्द भगवान् की सेवा करते रहे और कहीं भी उनका साथ नहीं छोड़ा। इस सेवा की मार्मिकता हम उस समय और गम्भीरता से अनुभव कर सकते हैं, जब हम यह स्मरण रखे कि स्थविर आनन्द आयु मे भगवान् बुद्ध के बिलकुल समान ही थे। जब इस समवयस्क शिष्य को हम भगवान् के वस्त्र सींते, पैर धोते, पंखा झलते, स्नान कराते, या अन्य सेवा-कार्य करते देखते हैं तो यह सब हमारे अन्तस्तल को स्पर्श किये बिना नही रहता। "आनन्द !" सम्बोधन करते हुए जब हम भगवान् बुद्ध को देखते हैं तो साधारणतः ऐसा लगता है मानो अपने से अवस्था में किसी बहुत छोटे शिष्य को वे सम्बोधन कर रहे हो। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वास्तव में एक वृद्ध गुरु अपने ठीक समवयस्क वृद्ध शिष्य को ही सम्बोधन कर रहा है। शिष्य भी अपने कर्तव्य मे युवा पुरुष से भी अधिक जागरूक है। सम्भवतः वह शारीरिक शक्ति मे अपने शास्ता से बहुत अधिक है और आयुसंस्कार तो निश्चय ही उसके उनसे बहुत अधिक चलते हैं। इस प्रसङ्ग के प्रकाश मे ही हमें इन शास्ता और शिष्य के सम्बन्धों की दिव्य अनुभूति करनी चाहिए।

आनन्द भगवान् बुद्ध में बहुत अनुरक्त थे। कभी उनके लिए वे पानी खींच कर लाते, कभी उनके निवासस्थान मूलगन्ध-कुटी की झाड़ू लगाते, कभी उनके शरीर की मालिश करते और कभी बिस्तर लगाते। सारांश यह कि आनन्द की सम्पूर्ण दिनचर्या ही तथागत की सेवा के लिए अर्पित थी। भगवान् के शरीर मे जो-जो गतियां अथवा परिवर्तन हुआ करते थे, आनन्द उन सबसे अवगत रहा करते थे।

भगवान् को थोडा--सा भी कष्ट होने पर वे विकल हो जाया करते थे। बुद्ध की सेवा को उन्होंने अपने जीवन का व्रत ही बना लिया था। रात मे सोना भी इस कर्मयोगी को कहां था? प्रतिदिन रात मे नौ वार एक हाथ मे एक बडा दीपक लेकर और दूसरे हाथ मे एक बड़ा डंडा लेकर वे मूलगन्ध-कुटी के चारों ओर जाते थे, ताकि बुद्ध की निद्रा को कोई भंग न करे और जरूरत होने पर वे उनकी कोई सेवा भी कर सकें।

एक बार देवदत्त (भगवान् बुद्ध के विद्रोही शिष्य) के षड्यन्त्र से नीलगिरि नामक मस्त हाथी शराब पिलाकर भगवान् के ऊपर छोडा गया ताकि वह उनको कुचल डाले। आनन्द हाथी को देखकर अपनी जान की पर्वाह न कर भगवान् बुद्ध के सामने खडे हो गए। भगवान् बुद्ध ने तीन बार मना किया कि आगे से हट जाओ, परन्तु आनन्द न हटे।'* शास्ता के प्रति आनन्द का इतना अगाध प्रेम था! अपने प्रेम के पागलपन मे वे शास्ता की आज्ञा की भी पर्वाह नही करते थे। एक ऐसा ही प्रसंग और है। एक बार भगवान् बुद्ध के पेट मे वायु पैदा हुई। आनन्द ने रोग को ठीक करने की आतुरता में घर के भीतर जा-कर स्वयं अपने हाथ से एक विशेष प्रकार का दलिया बनाया, जिससे वे जानते थे कि रोग ठीक हो जायगा। भोजन बनाने की कला में भी आनन्द बडे विज्ञ थे, परन्तु घर के अन्दर इस प्रकार बना हुआ भोजन भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था, भिक्षु-संघ के नियमो के विरुद्ध था। आनन्द को इसके लिए शास्ता की फटकार सुननी पडी!

आनन्द भगवान् के उपस्थाक थे और इस पद से सम्बन्धित जितने काम थे, उन सबके करने मे वह बडे सिद्धहस्त थे। भगवान् को जब कभी भिक्षुओ को बुलाना होता था, अथवा किसी के पास कोई सन्देश

---

* बाद मे तो शास्ता ने अपनी मैत्री-भावना से इस हाथी को आप्लावित कर दिया और वह आकर बच्चे की तरह सूंड से उनके पैर चाटने लगा।

भेजना होता था तो आनन्द को ही ये काम सौंपे जाते थे। भगवान् बुद्ध को कभी-कभी इधर-उधर की खबरें भी लाकर आनन्द दिया करते थे। "भन्ते! निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र ने अभी-अभी पावा में शरीर छोड़ा है।" इस प्रकार जैन-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की मृत्यु की सूचना भी भगवान् को आनन्द ने ही दी थी। इसी प्रकार देवदत्त के षड्यन्त्र की सूचना भी। भगवान् बुद्ध के गृहस्थ शिष्य या शिष्याएँ जब कोई भेंट या उपहार लेकर आते, तो वे पहले आनन्द से ही सलाह लेकर आवश्यक कार्य करते थे। कभी कोई भिक्षु या गृहस्थ शिष्य आकर कहते थे, "भन्ते आनन्द! बहुत दिन से इधर हमे भगवान् का धर्म-उपदेश सुनने को नही मिला! भन्ते आनन्द! ऐसी कृपा करें जिससे हमे भगवान् का धर्म-उपदेश सुनने को मिले।" आनन्द उनकी तृप्ति करने का प्रयत्न करते थे। जहाँ वे आवश्यक समझते थे लोगो को भगवान् से मिला देते थे। इस प्रकार उन्हे हम अनेक व्यक्तियो को भगवान् से भेंट कराते हुए देखते है। एक बार समृद्ध नामक भिक्षु ने भगवान् के मन्तव्य को गलत ढंग से समझ कर उपदेश दे दिया था। उसे लेकर आनन्द भगवान् के पास गये, ताकि वह धर्म को ठीक तरह से समझ सके। एक बार हम आनन्द को भगवान् से प्रार्थना करते हुए देखते हैं कि वे किम्बिल और कुछ अन्य भिक्षुओ के प्रति प्राणायाम की विधि पर प्रवचन दें; क्योंकि इससे उन्हे लाभ होगा। जैसा भी समय और अवसर देखते थे, आनन्द अक्सर अपने शास्ता को प्रेरित किया करते थे। आनन्द की सब प्रार्थनाएं स्वीकृत हो ही जाती हो, ऐसी भी बात नहीं थी। एक बार आनन्द ने प्रार्थना की कि भगवान् प्रातिमोक्ष (भिक्षु-नियम) का उपदेश करें, किन्तु भगवान् ने इन्कार कर दिया। तीन बार आनन्द ने प्रार्थना की, किन्तु तीनो बार तथागत ने इन्कार कर दिया। कारण भी बाद मे अवश्य बतला दिया गया। भगवान् ने एक बार शरीर की गन्दगियों पर इतना गम्भीर प्रवचन दिया कि कुछ भिक्षु उसे न समझ सके। न समझ कर उन्होने शरीर के प्रति घृणा के भाव से उत्तेजित होकर

एकान्त में जाकर आत्म-हत्या कर ली। आनन्द ने यह बात भगवान् को सुनाई और ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भगवान् को उपदेश करने की प्रार्थना की।

आनन्द भगवान् बुद्ध के बडे भक्त थे। चूँकि भगवान् बुद्ध अक्सर घूमते रहते थे, इसलिए श्रावस्ती मे उनके शिष्यों को सदा उनके दर्शन सुलभ नही होते थे। अनाथपिण्डिक का संघ के लिए दान किया हुआ प्रसिद्ध जेतवन बाग यहीं था, जहाँ भगवान् अक्सर आकर बीच-बीच मे ठहरा करते थे। अनाथपिण्डिक को इच्छा हुई कि भगवान् यहां सदा तो रहते नहीं, इसलिए ऐसा कोई स्थान होना चाहिए जहां भगवान् के नाम पर हम उनके प्रति आदर-सत्कार प्रदर्शित कर सकें। अपनी इच्छा उन्होंने आनन्द से कही। आनन्द ने महामौद्गल्यायन की सहायता से भगवान् से यह अनुमति ले ली कि वे गया के बोधि-वृक्ष का बीज वहां लगा सकते है। बडे आदर के साथ बीज लाया गया और जेतवन के प्रवेश-द्वार पर रोपा गया। आनन्द के अनुरोध से भगवान् को एक रात उस पेड के नीचे समाधि अवस्था में रहना पडा। भगवान् के दर्शनो के लिए जो यात्री आते इस पेड की पूजा अवश्य करते। चूंकि आनन्द ने इस पेड़ को लगाया था, इसलिए इसका नाम भी 'आनन्द-बोधि' हो गया।

आनन्द सदा यह ध्यान रखते थे कि जो कोई भी व्यक्ति आवश्यक कार्य से भगवान् बुद्ध से मिलने आए अथवा जिसे भगवान् के दर्शनो से लाभ मिलने की आशा हो उसे मिलने दिया जाय। किन्तु कभी-कभी उन्हें अवाञ्छनीय व्यक्तियो को रोकना भी पडता था। उदाहरण के लिए जब भगवान् मृत्यु-शय्या पर पडे हुए थे तो सुभद्र नामक परिव्राजक उनके दर्शनो के लिए आया। बोला, "भन्ते आनन्द! श्रमण गोतम का दर्शन करना चाहता हूँ।" आनन्द ने उत्तर दिया—"नही आवुस सुभद्र! तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" तीन बार सुभद्र ने प्रार्थना की; किन्तु तीनो बार आनन्द ने

इन्कार कर दिया। भगवान् ने इसे सुना और बोले "आनन्द! सुभद्र को मना न करो। सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। जो कुछ सुभद्र पूछेगा, वह परमज्ञान की इच्छा से ही पूछेगा, तकलीफ देने की इच्छा से नहीं।" आनन्द क्या करते, विवश थे। बोले, "जाओ आवुस सुभद्र! भगवान् तुम्हें आज्ञा देते हैं।" इसी अवसर पर कुसीनारा के मल्ल लोग अपने परिवारो सहित भगवान् का अंतिम दर्शन करने आए। आनन्द ने सबको वर्गों मे बांट-बांट कर एक के बाद एक करके थोड़े-से समय मे दर्शन करा दिए। इस प्रकार आनन्द भगवान् को बहुत-सी अनावश्यक असुविधाओ से बचाकर रखते थे। एक बार का जिक्र है कि उदय के पुत्र बोधिराजकुमार ने भगवान् को अपने प्रासाद मे निमन्त्रित किया और उनके सम्मानार्थ बहुमूल्य गलीचे बिछवा दिए, जिनपर चलकर भगवान् प्रासाद मे जायें। भगवान् यह नहीं कर सकते थे। आनन्द ने उनके मन्तव्य को समझ-कर बोधि राजकुमार को आदेश दे दिया, "राजकुमार! इन धुस्सों को समेट लो। भगवान् इनपर नही चलेगे।"

'धर्म के भण्डारी' होने के नाते आनन्द के संघ में भी अनेक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य थे। उदाहरण के लिए यह आनन्द का ही काम था कि धर्मोपदेश के बाद जो कोई पुरुष या स्त्री अपनी चीज़ भूल जाय उसे संभाल कर रखे। एक बार विशाखा अपने कुछ जेवर रखकर भूल गई थी। "एक ओर रख दो, आनन्द!" ऐसा आदेश भगवान् ने आनन्द को दिया था। स्थविर ने उठाकर उसे सीढी के पास रख दिया था। बाद मे विशाखा ने आनन्द के प्रति श्रद्धा-भावना से कहा, "इसे मेरे आर्य ने छुआ है। मैं अपने आर्य की छुई हुई चीज को नहीं पहनूँगी।" उसके मूल्य से उसने श्रावस्ती मे भगवान् के निवास के लिए 'पूर्वाराम' नामक एक विहार बनवा दिया।

आनन्द छोटे-मोटे कामों के करने में भी बडे कुशल थे। पहले भिक्षु बिना सिले कपड़े पहना करते थे। एक बार भगवान् ने मगध के खेतों में

अच्छी तरह बँधी हुई क्यारियों को देखकर आनन्द से कहा, "आनन्द ! देखते हो मगध के इन सुव्यवस्थित क्यारी-बद्ध खेतो को ?"

"हां भन्ते !"

"आनन्द ! क्या भिक्षुओ के लिए ऐसे चीवर बना सकते हो ?"

"हां भन्ते !"

कुछ दिनो बाद आनन्द ने कहा, "भन्ते ! भगवान् देखे मैने चीवर बनाये हैं।" भगवान् को वस्त्रो का काट-व्योंत बहुत पसन्द आया। उन्होने कहा, "भिक्षुओ ! आनन्द बड़ा पण्डित है, ज्ञानी है। इसने तो कुसी भी बनाई, आधी कुसी भी बनाई। मण्डल भी बनाया, आधा मण्डल भी बनाया। विवर्त भी बनाया, अनुविवर्त भी बनाया। ग्रैवेयक भी बनाया, जांघेयक भी बनाया, बाहन्त भी बनाया।"* भगवान् के वस्त्रों को सीने का काम खासतौर पर आनन्द ही करते थे।

आनन्द की मितव्ययिता की भावना बड़ी प्रबल थी। बिना आवश्यकता के वे किसी चीज का ग्रहण नहीं करते थे। हम अनेक बार देखते है कि जब भी उनके भक्तगण उन्हें कुछ देना चाहते है, तो इस अपरिग्रही भिक्षु का सदा यही कहना होता है, "मेरे पात्र और चीवर पूरे हैं, मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं है।" अत्यधिक आग्रह के कारण यदि कोई चीज लेनी भी पड़ती तो या तो फिर वह शास्ता के अर्पण करने के लिए होती या सारिपुत्र आदि सम्माननीय गुरु-भाइयों की भेंट के लिए या फिर सम्पूर्ण संघ के उपयोग के लिए। एक बार राजा उदयन की रानियो ने आनन्द को ५०० चादरें भेंट की। उदयन को बड़ा आश्चर्य हुआ कि आनन्द इतनी अधिक चादरो को लेकर क्या करेंगे ? स्थविर आनन्द के पास जाकर उन्होने पूछा,

"आनन्द ! आप इतने अधिक चीवरो का क्या करेंगे ?"

"महाराज ! जो फटे चीवर वाले भिक्षु हैं, उन्हें बाँटेगे।"

---

* नाना प्रकार के भिक्षु वस्त्र

"और जो पुराने चीवर हैं, उनका क्या करोगे ?"

"महाराज ! उन्हें बिछौने की चादर बनायेंगे।"

"भन्ते आनन्द ! वह जो पुराने बिछौने की चादरें हैं, उनका क्या करोगे ?"

"उनसे गद्दे का गिलाफ बनायेंगे।"

"जो वह पुराने गद्दे के गिलाफ हैं, उनका क्या करोगे ?"

"उनका महाराज, फर्श बनायेंगे।"

"जो वह पुराने फर्श हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनका महाराज ! पायन्दाज बनायेंगे।"

"जो पुराने पायन्दाज हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनका महाराज ! झाडन बनायेंगे।"

"जो पुराने झाडन हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनको कूटकर, कीचड के साथ मर्दन कर, पलस्तर करेंगे।"*

इस संलाप से न केवल आनन्द की अपितु सम्पूर्ण बौद्ध संघ की मितव्ययिता पर काफी प्रकाश पडता है। दान की विशुद्धि कैसे की जाती है, इसे भिक्षु लोग अच्छी तरह जानते थे।

आनन्द चूँकि भगवान् के सबसे अधिक समीपी शिष्य थे, इसलिए उनके साथ-साथ उनको भी बहुत कुछ सुविधाएँ मिल सकती थीं। परन्तु हम देख चुके है कि आनन्द ने पहले ही भगवान् से यह शर्त ले ली थी कि वे उनके साथ कभी निमन्त्रण आदि मे नही जाएंगे। इतना ही नहीं, आनन्द का जीवन छोटी-से-छोटी बातो मे भी बडा जागरूक था। कोशलदेश का राजा प्रसेनजित् भगवान् का बडा भक्त था। आनन्द को भी वह बहुत मानता था। जब कभी आनन्द उससे मिलते तो यही कहता, "भन्ते ! आयुष्मान् आनन्द इस कालीन पर बैठें।" परन्तु आनन्द तो "नहीं महाराज ! आप बैठो। मैं अपने आसन पर बैठा हूँ"–

---

* बुद्धचर्या पृष्ठ ५५३-५४

कहकर भिक्षु-नियम के अनुसार ही आसन पर बैठते। एक बार तो आनन्द की तपस्या की भगवान् बुद्ध ने भी बडी प्रशंसा की। दुर्भिक्ष पडने के कारण एक बार भिक्षुओं को भिक्षा मिलने मे दिक्कत होने लगी। कहीं घोडो के डेरों से वे कुछ चावल के दाने ले आते। उन्हें लाकर ओखल मे कूट-कूटकर खाते थे। सिल पर पीस कर कुछ दाने आनन्द भगवान् को भी दे देते थे। भगवान् उन्हे खाते थे। भगवान् ने एक बार ओखल का शब्द सुना। तथागत ने पूछा, "आनन्द! यह ओखल का-सा शब्द क्या है?" आनन्द ने सब बात कह दी। "साधु! साधु! आनन्द! तुम सत्पुरुषो ने लोक को जीत लिया। आगे आने वाली जनता तो शालि-मांस-ओदन चाहेगी।"* अल्पेच्छता के इन्हीं आधारो पर बौद्ध संस्कृति की आधार-शिला रक्खी गई थी।

भगवान् बुद्ध के साथ आनन्द के इतने अधिक संलाप हुए हैं कि अत्यन्त संक्षेप मे भी उनका निर्देश करना बहुत कठिन है। सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायो मे 'ऐसा मैने सुना' (एवं मे सुतं) इस प्रकार जो पहली आवाज सुनाई देती है, वह आनन्द की ही है, ऐसा हमें जानना चाहिए। कहा जाता है कि ८२००० धर्मोपदेश आनन्द ने स्वयं भगवान् से सुने थे और २००० अन्य शिष्यो से।† इन सबका संग्रह आज हम सुत्त-पिटक के रूप मे देखते है, जिसके लिए हमे आनन्द का ही कृतज्ञ होना चाहिए। निरोध, लोक, शून्य, वेदना, ऋद्धि और प्राणायाम आदि महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विषयो पर भगवान् बुद्ध और आनन्द के प्रश्नोत्तर संयुक्त-निकाय मे निहित हैं।

भगवान् का यह स्वभाव था कि कभी-कभी जान-बूझकर वे अपने भाषण को संक्षिप्त कर देते थे, ताकि आनन्द आदि विज्ञ भिक्षुओं को

---

* देखिए बुद्ध-चर्या, पृष्ठ १४१

† देखिए थेरगाथा १०२४ (उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित नागरी संस्करण)

उसकी विस्तार से व्याख्या करने का अवसर मिले। कभी-कभी भगवान् के प्रवचन को सुनकर स्वयं भिक्षु ही माँग करने लगते थे कि आनन्द उसे विस्तृत रूप से समझावें। ऐसे अवसरों पर आनन्द अपने शास्ता के सम्मुख ही धर्म-प्रवचन करते थे और उनका अनुमोदन प्राप्त करते थे। एक बार शाक्यों को उपदेश करते हुए भगवान् को बहुत रात बीत गई तो उन्होंने स्वय आराम करने की इच्छा से आनन्द को ही उस प्रवचन को आगे चलाने का आदेश दिया। कभी-कभी वैसे ही भगवान् बुद्ध आनन्द को किसी विशेष विषय पर बोलने के लिए कह देते थे। अच्छ-रियब्भुतधम्म-सुत्त का उपदेश आनन्द ने इसी प्रकार दिया है। कभी-कभी भगवान् अपने पहले ही दिये हुए उपदेश की पुनरावृत्ति अपने शिष्यो से परीक्षा-स्वरूप कराते थे। आनन्द ने एक ऐसे ही उपदेश की पुनरावृत्ति की है। उसका नाम 'भद्देकरत्त-सुत्त' है। भद्देकरत्त का अर्थ है भद्रैकरक्त, अर्थात् एकान्ततः भद्र, कल्याण मे लगा हुआ। ऐसे ही पुरुष के लक्षण इस उपदेश मे बताये गये हैं: "अतीत का अनुगमन (पछतावा) न करे, भविष्य की भी चिन्ता मे न पडे। जो अतीत है वह तो नष्ट हो गया और भविष्य अभी आ नहीं पाया। वर्तमान को ही जहां-तहां देखे। जो असंहारी, न टलने वाला है, उसे विद्वान् बढावे। आज ही कर्तव्य मे जुट जाना चाहिए, कौन जानता है कल मरण हो। बड़ी सेना वाले मृत्यु से युद्ध करते हमारा कोई निश्चय नही है। रात-दिन निरालस, उद्योगी हो। इस प्रकार विहरने वाले को ही शान्त मुनि-जन भद्रैकरक्त कहते हैं।"* इस उपदेश को जब आनन्द ने दुबारा कहा तो इसका नाम ही 'आनन्द-भद्देकरत्त-सुत्तन्त' हो गया। आनन्द तत्कालीन परिव्राजकों को किस प्रकार बुद्ध-मत मे लाने मे दक्ष थे, यह सन्दक-सुत्त से भली प्रकार जाना जा सकता है। हां, कभी-कभी जब उनसे ही कोई ऐसा

---

* राहुल साकृत्यायन का अनुवाद।

प्रश्न पूछ बैठता जिसके विषय में वे निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते थे तो उस कठिनाई को लेकर अपने शास्ता के पास जाते थे और उनसे उसे सुलझवाते थे।

भगवान् की ओर से आनन्द को स्वतन्त्रता थी कि वे जो चाहें प्रश्न पूछें। इसका पूरा लाभ आनन्द ने उठाया। उनका मन बच्चों की तरह जिज्ञासामय था। जब कभी भगवान् को मुस्कराते भी देखते तो झट पूछ उठते, "भन्ते! क्या हेतु है भगवान् के स्मित प्रकट करने का? भन्ते! तथागत बिना कारण के स्मित प्रकट नहीं किया करते।" इसी प्रकार तथागत यदि मौन रहते तो उसका भी कारण आनन्द को बताना ही पड़ता। एक बार आनन्द पीछे खड़े हुए भगवान् को पंखा झल रहे थे। भगवान् ने उन्हें एक ओर हटने को कहा। इसका भी कारण उन्हें आनन्द को बताना पड़ा। इस प्रकार अनेक मनोरंजक प्रसङ्ग हैं जो उस समय की स्मृति को आज भी हमारे लिए जीवित बनाते हैं। आनन्द के उपदेशों का स्वरूप और गाम्भीर्य जानने के लिए हमे विशेषतया सेखसुत्त (मज्झिम २।१।३) बाहितिय सुत्त (मज्झिम २।४।८) आनञ्ज-सप्पाय सुत्त (मज्झिम ३।१।६) गोपकमोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८) चूल सुञ्ञता-सुत्त (मज्झिम ३।३।१) महासुञ्ञता-सुत्त (मज्झिम ३।३।२) अच्छरियब्भुत धम्मसुत्त (मज्झिम ३।३।३) आनन्द-भद्देकरत्तसुत्त (मज्झिम ३।४।२) महानिदानसुत्त (दीघ. २।२) महा-परिनिब्बाण सुत्त (दीघ. २।३) तथा सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०) देखने चाहिएं।

भगवान् बुद्ध के अन्तिम दिनों मे हम उनके प्रति आनन्द के प्रेम और सेवा-भाव के प्रकर्ष को देखते हैं। भगवान् को कड़ी बीमारी हुई। मनोबल से व्याधि को हटाकर वे स्वस्थ हो गये। आनन्द की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, "भन्ते! भगवान् को सुखी देखा। भन्ते! मैंने भगवान् को अच्छा हुआ देखा। भन्ते! मेरा

शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिशाएं भी सूझ न पड़ती थीं। भगवान् की बीमारी मे मुझे पदार्थ भी भान नहीं होते थे। भन्ते ! कुछ आश्वासन-मात्र रह गया था कि भगवान् तबतक परिनिर्वाण प्राप्त नही करेंगे, जब-तक भिक्षु-संघ से कुछ कह न लेंगे !" लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान को भगवान् के पात्र और चीवर लिये हुए आनन्द घूमते हैं और भगवान् की अस्वस्थता की हालत मे वे स्वयं भी अस्वस्थ-से हो गये है। अनेक प्रकार के विषयों पर इस समय उनका भगवान् से वार्तालाप होता है, पर आशङ्का उन्हें हर समय यही लगी रहती है कि शास्ता जीवन-शक्ति छोड़ने वाले हैं। बच्चो के-से भोलेपन के साथ आनन्द शास्ता से अनुनय करते हैं, "भन्ते ! भगवान् बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ, देव-मनुष्यो के अर्थ, हित और सुख के लिए कल्प-भर ठहरे।" तीन बार आनन्द भगवान् से अभी शरीर न छोडने के लिये प्रार्थना करते हैं। लेकिन भगवान् आनन्द के मोह को दबाते हुए यही कहते हैं "आनन्द ! क्या तुम्हें तथागत की बोधि पर विश्वास है ?"†

"हां भन्ते !"

"तो आनन्द ! क्यो तीन बार तथागत को दबाते हो ?" आनन्द विवश होकर मौन हो जाते हैं। भगवान् ने प्रकट कर दिया कि थोडे ही समय मे तथागत का परिनिर्वाण होगा। "मेरा आयु परिपक्व हो गया, मेरा जीवन थोडा है। तुम्हे छोड कर जाऊंगा, मैंने अपने करने योग्य काम को कर लिया।" वैशाली का अन्तिम बार दर्शन कर तथागत कुसीनारा की ओर चल दिए। आनन्द को यह पसन्द नहीं आया कि भगवान् कुसीनारा जैसे अज्ञात, अप्रसिद्ध स्थान में परिनिर्वाण प्राप्त करें। बोले, "भन्ते। आप इस छोटे से जंगली और झाड-झंखाड वाले नगले मे कृपया परिनिर्वाण

† सद्दहसि त्व आनन्द तथागतस्स बोधि ति। महापरिनिब्बाण-सुत्त।

प्राप्त न करें। आपके परिनिर्वाण प्राप्त करने योग्य और भी बड़े-बडे शहर हैं—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी। वहां आपके अनेक महाधनी क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य शिष्य हैं। वे तथागत के भक्त हैं और तथागत के शरीर की पूजा करेंगे।" आनन्द ने यह कह कर अपने भोले स्वभाव और भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम को तो दिखा दिया; परन्तु तथागत को तो वही करना था जो उन्होने सोच रक्खा था। भगवान् का परिनिर्वाण होने को है, परन्तु आनन्द उनकी बगल मे नहीं है। भावुक आनन्द मे इतना धैर्य्य कहां? आनन्द विहार के भीतर जाकर खूंटी पकड कर फूट-फूट कर रो रहे हैं, "हाय! जो मेरे अनुकम्पक शास्ता हैं, उनका परिनिर्वाण हो रहा है और मै आज तक शैक्ष्य (अ-मुक्त) ही बना हुआ हूं।" भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया, "भिक्षुओ! आनन्द कहां है?"

"भन्ते! आयुष्मान् आनन्द विहार में खूंटी पकड़ कर खडे रोते हैं।"

"आ भिक्षु! मेरे वचन से तू आनन्द को कह, आवुस आनन्द! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं।"

"अच्छा भन्ते!"

रोते हुए आनन्द को देखकर भगवान् ने कहा, "आनन्द! रोओ मत। शोक मत करो। मैंने तो पहले ही कह दिया है—सभी प्रियों से वियोग होना है। 'हाय! वह नाश न हो!' यह सम्भव नहीं। आनन्द! तूने चिरकाल तक मैत्रीपूर्ण कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म से तथागत की सेवा की है। तूने बहुत पुण्य कमाया है। तू निर्वाण-साधना मे लग, शीघ्र ही मुक्त होगा।" यह आशीर्वाद देकर भगवान् ने आनन्द के गुणों की प्रशंसा की, "भिक्षुओ! यदि भिक्षु-परिषद् आनन्द का दर्शन करने जाती है तो दर्शन से सन्तुष्ट हो जाती है। यदि आनन्द धर्म पर भाषण करता है तो भाषण से भी

सन्तुष्ट हो जाती है। भिक्षुओ! भिक्षु-परिषद् अतृप्त ही रहती है जबकि आनन्द चुप हो जाता है।" आनन्द और अन्य भिक्षुओं को आवश्यक अन्तिम उपदेश देकर शास्ता ने निर्वाण प्राप्त किया, लोकनेत्र अन्तर्धान हो गए।

शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद भी आनन्द बहुत दिनों तक जीवित रहे। भगवान् के पात्र और चीवर लिये यह विरक्त भिक्षु किस करुणा को लेकर इधर-उधर उपदेश करता हुआ घूमता था, यह हम आज कैसे जान सकते हैं? पालि-त्रिपिटक में तो आनन्द के परिनिर्वाण का कोई वर्णन ही नहीं है। फाहियान ने एक पूर्व-परम्परा के अनुसार कहा है कि आनन्द का परिनिर्वाण रोहिणी नदी की धारा में तेजोकसिन (तेजः कृत्स्न) ध्यान के द्वारा हुआ जिसमें उनका सारा शरीर तेजमय होकर अपने आप जल उठा और अवशिष्ट अंशों को मगध के अजातशत्रु और वैशाली के क्षत्रियों ने, जो नदी के दोनों किनारों पर खड़े हुए थे, आपस में बांट लिया और उन पर चैत्य बनवाए।

यह एक स्मरणीय बात है कि आनन्द प्रव्रजित तो भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व-प्राप्ति के दूसरे वर्ष में ही हो गए थे और फिर उसके १८ या १९ वर्ष बाद वे भगवान् के नियत शरीर-सेवक भी हो गए जो वह ठीक पच्चीस वर्ष तक अर्थात् शास्ता के अन्तिम काल तक बने रहे। इस प्रकार शास्ता के महापरिनिर्वाण काल तक वे ४० वर्ष से अधिक समय तक बौद्ध संघ में रहे। यह एक आश्चर्य का विषय है और निश्चय ही बौद्ध स्थविरों ने स्पष्टता-पूर्वक इसे दिखाकर एक बड़ा अद्भुत कार्य किया है कि इतने साल तक बुद्ध की सेवा में रहने के उपरान्त भी आनन्द अर्हत्-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये जबकि भगवान् बुद्ध के अन्य अनेक शिष्यों ने इस अवस्था को प्राप्त कर लिया था। भगवान् के परिनिर्वाण के समय हमने आनन्द को इस बात के लिए शोक करते हुए भी देखा है।
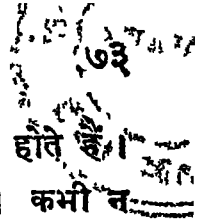
'थेरगाथा' मे हमे आनन्द की एक ऐसी ही बिलख के दर्शन होते हैं। वे कहते हैं, "पच्चीस वर्ष तक मैंने भगवान् की सेवा की। कभी न छोड़ने वाली छाया की तरह मै बड़े प्रेम से भगवान् की शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूप से सेवा करता रहा। जहाँ कहीं बुद्ध गये, मैं उनके पीछे गया। आज मेरे अनुकम्पक शास्ता का निर्वाण हो रहा है और हाय! अभी मुझे करना हो बाकी है, सीखना ही बाकी है।"* पर अर्हत् न होते हुए भी इतने समय में आनन्द के हृदय में कोई बुरा विचार न आया था, काम-वासना कभी भी उत्पन्न न हुई थी, क्योंकि वे सदा शास्ता के साथ ही रहे थे। अर्हत् न होने का अभाव आनन्द को निश्चय ही बहुत खल रहा था। उनके अनेक गुरु-भाई भी इसके लिए उन्हें ताना मारते थे। इसी समय भगवान् के परि-निर्वाण के बाद उनके उपदेशो का संग्रह करने और उन्हें व्यवस्थित रूप देने के लिए एक बडी सभा (संगीति) होने जा रही थी, जिस मे ५०० भिक्षु भाग लेने वाले थे और जिसके अध्यक्ष स्थविर महाकाश्यप थे। एक स्थान आनन्द के लिए भी खाली रक्खा गया था। जिस दिन सभा आरम्भ होने जा रही थी उसकी पहली रात को बहुत देर तक काय-गता-स्मृति का ध्यान कर रात के अन्तिम याम मे आनन्द अर्हत्व-फल में प्रतिष्ठित हो गए। उनका चित्त मलों से सदा के लिए दूर हो गया, मुक्त हो गया। चित्त-मलो से पूर्णतः मुक्त होकर ही आनन्द ने सभा मे महा-काश्यप के आदेश से धर्म (सुत्त-पिटक) का सगायन किया, जो आज हमे उपलब्ध है। यदि आनन्द ने यह कार्य न किया होता तो 'सु स्वर वाले बुद्ध के वे शब्द, आज न जाने किस शून्य आकाश मे विलीन हो गये होते, यह कौन जान सकता है ? जिसने बुद्ध-उपदेशों से कुछ पाया है,वह आनन्द की कृतज्ञता-अनुस्मृति किये बिना नहीं रह सकता।

ऊपर हम भगवान् बुद्ध के साथ आनन्द के सम्बन्ध का कुछ

---

* थेरगाथा, गाथाएं १०४१-४५

दिग्दर्शन कर चुके है। हमें यह भी देखना चाहिए कि भिक्षु-संघ के अन्य सदस्यों के साथ आनन्द का बर्ताव कैसा था। भिक्षु-संघ मे सारिपुत्र उनके सबसे घनिष्ठ साथी थे। अपनी कठिनताओं में आनन्द उनसे अक्सर परामर्श लिया करते थे। निर्वाण और समाधि आदि विषयो पर अनेक बार आनन्द ने सारिपुत्र का मार्ग-दर्शन चाहा, जिसे सारिपुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक दिया। आनन्द सारिपुत्र का आदर करते थे; क्योंकि सारिपुत्र भगवान् के ज्ञानी शिष्यो मे सबसे प्रधान थे। सारिपुत्र आनन्द से प्रेम करते थे, क्योंकि उनके हृदय मे भगवान् की सेवा करने की जो इच्छा थी उसको क्रियात्मक रूप मे पूरी करते हुए वे आनन्द को देखते थे। अनेक बार हम सारिपुत्र को आनन्द का स्वागत करते पाते हैं। एक बार आनन्द को किसी ब्राह्मण ने एक सुन्दर कीमती वस्त्र भेंट किया। आनन्द ने सारिपुत्र को देना चाहा, किन्तु चूँकि सारिपुत्र उस समय वहां नही थे, इसलिए जब तक सारिपुत्र लौटकर न आये तब तक भगवान् ने उस वस्त्र को आनन्द को ही रखने की आज्ञा दी। सारिपुत्र के निधन पर आनन्द की जो विकल अवस्था हुई थी उसका कुछ निदर्शन उनके ये शब्द करते हैं, "दिशाएँ मुझे दिखाई नहीं देती, पदार्थ मुझसे पहचाने नही जाते। उस कल्याणकारी मित्र के चले जाने पर मुझे चारो ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है।"* हृदय के तो वे इतने कच्चे थे कि इस अशुभ समाचार को शास्ता को सुनाने के लिए अकेले जाने की उनकी हिम्मत ही नही हुई। वे सारिपुत्र के छोटे भाई चुन्द समणुद्देस के साथ शास्ता के पास इस दुःसंवाद को सुनाने के लिए गए। सारिपुत्र के अलावा आनन्द की घनिष्ठता विशेषतः महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप, अनिरुद्ध और कांखा रेवत भिक्षुओ से थी। महाकाश्यप का आनन्द बहुत आदर करते थे। एक बार किसी उपसम्पदा-संस्कार मे आनन्द को शामिल होना था जिसमें

---

* थेरगाथा, गाथा १०३४

नियमानुसार उन्हे 'महाकाश्यप' शब्द का उच्चारण करना पडता। आनन्द ने स्थविर महाकाश्यप के प्रति यह सम्मानसूचक न समझा और उपसम्पदा-संस्कार में भाग न लिया। अपने से बडे भिक्षु के साथ उनकी सम्मान-भावना इस हद तक बढ़ी हुई थी। एक बार तो महाकाश्यप ने आनन्द को फटकार भी दिया। आनन्द के साथ रहने वाले कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु अनुशासन के विपरीत आचरण कर रहे थे। महाकाश्यप को यह पसन्द न आया और इसके लिए उन्होने आनन्द को आडे हाथो लिया। महाकाश्यप ने कहा, "आवुस आनन्द! तुम क्यों इन अजितेंद्रिय, जागरण मे तत्पर न रहने वाले, नये भिक्षुओं के साथ रहते हो? मानो तुम सस्यों का घात कर रहे हो। मानो तुम कुलो का घात कर रहे हो। तुम सस्यो का घात करते चलते हो। कुलों का घात करते चलते हो। आवुस आनन्द! तुम्हारी भिक्षु-मंडली भंग हो रही है, अधिकतर नये भिक्षुओं वाली तुम्हारी मंडली टूट रही है।" इतना कहकर महाकाश्यप ने आनन्द के प्रति यह भी कह दिया, "यह बालक (कुमार) सीमा नहीं जानता।" आनन्द तो भिक्षु-संघ मे रहते-रहते बुड्ढे हो गए थे। यह कहा जाना उनके लिए बहुत था। फिर भी वे अत्यन्त विनम्रता के साथ बोले, "भन्ते काश्यप! मेरे सिर के बाल सफेद हो गए। तो भी मै आयुष्मान् महाकाश्यप के बालक (कुमार) कहने से नहीं छूट रहा हूँ।" महाकाश्यप की तीव्र वाणी को आनन्द तो झेल गए, परन्तु पास खडी थुल्लनन्दा नाम की भिक्षुणी को सह्य नही हुआ। उसने कहा, "दूसरे सम्प्रदाय मे पहले रहे हुए आर्य महाकाश्यप, वैदेह मुनि आर्य आनन्द को बालक कहकर फटकारने की हिम्मत कैसे कर सकते हैं?" विनयी और कोमल-हृदय आनन्द ने थुल्लनन्दा के वचनो के लिए महाकाश्यप से क्षमा मांगी।[1] इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर महाकाश्यप आनन्द की उपस्थिति में भिक्षुणी-संघ मे उपदेश दे रहे हैं। उपदेश समाप्त होने पर थुल्लतिस्सा नाम की भिक्षुणी कुछ अविनय के साथ एक प्रसंग मे कहने लगी,

"आर्य आनन्द के सामने धर्मोपदेश करने की आर्य महाकाश्यप कैसे हिम्मत करते हैं ? यह तो वैसे ही है जैसे सुई बेचने वाला सुई बनाने वाले के पास जाकर ही सुई बेचे ?" काश्यप इन शब्दों को सुनकर क्षुब्ध हुए, किन्तु आनन्द ने उठकर बडी ओजस्विनी वक्तृता दी, जिसमे उन्होने बताया कि महाकाश्यप किस प्रकार हर एक बात मे उन से बढकर हैं। भिक्षुणी थुल्लतिस्सा की ओर से क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने विनय-पूर्वक कहा, "भन्ते ! क्षमा करें, स्त्रियां नादान होती हैं !" स्थविर महाकाश्यप ने भी आनन्द के प्रति सदा अन्त.करण से प्रेम ही रक्खा और आनन्द ने जब अर्हत्त्व प्राप्त किया तो उन्हें बधाई देने वाले भी सबसे पहले आर्य महाकश्यप ही थे। गृहस्थ शिष्यो मे प्रसेनजित् आनन्द को बहुत मानता था। अपने पहले परिचय में ही आनन्द को देखकर प्रसेनजित् ने भगवान् से पूछा था, "भन्ते ! इन भिक्षु का नाम क्या है ?" "आनन्द इसका नाम है ! महाराज !"

"अहो आनन्द हैं ! अहो आनन्द रूप हैं।" प्रसेनजित् को कई बार आनन्द ने धर्मोपदेश भी किए और भगवान् बुद्ध तो प्रसेनजित् से यही कहा करते थे कि यदि उसे तथागत का सम्मान करना है तो आनन्द का सम्मान करना चाहिए। ऊपर एक जगह हम कह आए हैं कि आनन्द को भगवान् ने स्मृतिमानों मे श्रेष्ठ कहा था। वहां हमने स्मृति का अर्थ स्मरण-शक्ति लिया है। किन्तु स्मृति (सति) का बौद्ध दर्शन मे एक और व्यापक तथा गम्भीर अर्थ भी है। स्मृति अर्थात् निरन्तर जागरूकता, शरीर और मन की प्रतिक्षण सावधानी, स्मृति-सम्प्रजन्य। इस अर्थ में भी आनन्द किस प्रकार 'स्मृति' वालो में श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं, यह एक छोटे-से प्रसंग से स्पष्ट हो सकता है। आनन्द का एक साथी भिक्षु था। एक बार भिक्षाचर्या करते हुए उसने एक स्त्री को देखा और उसे राग उत्पन्न हो गया। बिलखते हुए उसने आनन्द से कहा,

कामरागेन डय्हामि चित्त मे परिडय्हति।

साधु निब्बापनं ब्रूहि अनुकम्पाय गोतम ॥

"काम-वासना से मैं जल रहा हूँ, चित्त भी मेरा जलता है। हे गोतम ! अनुकम्पा करके मुझे इसका ठीक तरह से शांत होना बतलाइए ?"

आनन्द ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों मे कहा,

सञ्ञाय विपरियेसा चित्तं ते परिडय्हति ।
निमित्तं परिवज्जेहि सुभं रागूपसंहितं ॥
असुभाय चित्तं भावेहि, एकग्गं सुसमाहितं ।
सङ्खारे परतो पस्स, दुक्खतो नो च अत्ततो ॥
निब्बापेहि महारागं, मा डय्हित्थो पुनप्पुनं ।*

अर्थात्—"यह तेरे ज्ञान की विरूपता है, जिससे तेरा चित्त जलता है। आकर्षक आकृतियों को छोड, ये राग से भरी हुई हैं। अशुभ-भावना मे अपने चित्त को लगा, चित्त को एकाग्र और समाधिस्थ कर। दुनिया की सभी निर्मित वस्तुओं (संस्कारों) को देख कि ये तेरी अपनी नहीं हैं, तुझसे पराई है। ये दुःख है, अनित्य है और अनात्म है। इस प्रकार चिन्तन कर तू इस बडी काम-वासना को शान्त कर दे, बार-बार क्यों जलता है ?" स्थविर राग को हटाकर भिक्षा-चर्या करने चले गए।

ऊपर हमने स्थविर आनन्द के अनेक गुणों का वर्णन किया है। उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि आनन्द के स्वभाव और व्यवहार में मनुष्यता कूट-कूट कर भरी थी। उपालि को पहले प्रव्रज्या दिला कर स्वयं पीछे प्रव्रज्या लेना, सारिपुत्र और अपने शास्ता के निधन पर उनके उद्गार और सबसे अधिक उनकी सरलता, विनम्रता और उचित स्वाभिमान आदि बातें ऐसी हैं जो आनन्द को सदा के लिए सबका

---

* संयुत्त-निकाय । विसुद्धि-मग्ग १।१०३ मे उद्धृत (धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

प्रिय बनाती है। इसी प्रसङ्ग मे हमें दो-एक बाते और कहनी हैं। आनन्द एक बार कहीं चले जा रहे थे। रास्ते मे उन्हे प्यास लगी। पास मे एक कुएं पर एक चाण्डाल-कन्या पानी भर रही थी। आनन्द ने उसके पास जाकर भिक्षु-रीति से पानी माँगा। लडकी जानती थी कि जाति-प्रथा के अनुसार उसके हाथ का जल एक ऊंची जाति का व्यक्ति कैसे पी सकता था? सहमती हुई बोली, "भगवन्! मैं तो चाण्डाल कन्या हूं! मै आपको जल कैसे दूं?"

"भगिनि! मैने तुझसे जाति तो माँगी नही है। मैने तो तुझसे पानी माँगा है।"

आनन्द को पानी पिला कर वह चाण्डाल-कन्या सदा के लिए अमर होगई। आनन्द की एक प्रधान दिन-चर्या रोगी-शुश्रूषा थी। दोपहर के समय जब भगवान् कुछ विश्राम लेते थे, आनन्द का समय रोगियो की सेवा करने और उनसे बातें करने मे बीतता था। यह उनका प्रतिदिन का क्रम था। रोगियो को देखने और उन्हे सान्त्वना देने के लिए भी आनन्द जाया करते थे। एक बार गिरिमानन्द नामक रोग को देखने और सान्त्वना देने के लिए भगवान् ने उन्हे भेजा था। एक बार जब अनाथ-पिण्डिक बीमार था तो उसने भी आनन्द को बुलवाया था। इसी प्रकार सिरिवड्ढ और मानदिन्न नामक रोगी व्यक्तियो की भी आनन्द ने बडी सेवा की थी। एक रोगी भिक्षु की सेवा तो आनन्द ने अपने शास्ता के साथ मिलकर ही की। एक भिक्षु को पेट की कडी बीमारी थी। वह अपने पेशाब-पाखाने मे पडा हुआ था। भगवान् आनन्द को साथ लेकर वहाँ पहुंचे। पूछा, "भिक्षु! तुझे क्या रोग है?"

"पेट की बीमारी है, भन्ते!"

"भिक्षु, तेरा कोई परिचारक भी है?"

"नहीं, भन्ते!"

भगवान् ने आनन्द से कहा, "जा आनन्द! पानी ला! इस भिक्षु को नहलायेंगे।" आनन्द पानी लाए। भगवान् ने पानी डाला, आनन्द

ने धोया। भगवान् ने सिर की तरफ़ से पकड़ा, आनन्द ने पैर की तरफ़ से। उठाकर चारपाई पर लिटाया। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, "भिक्षुओ! तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा करेंगे। यदि तुम एक-दूसरे की सेवा न करोगे तो कौन सेवा करेगा? भिक्षुओ! जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी ही सेवा करता है।" ऐसे अनेक उदाहरण है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि रोगी-सेवा बुद्ध-शासन-साधना का एक प्रधान अङ्ग था। सारिपुत्र की कुष्ठ-पीड़ित की सेवा का निदर्शन हम अन्यत्र कर ही चुके है। भगवान् की उपासिका शिष्याओ मे सुप्रिया नाम की महिला रोगी-शुश्रूषिकाओ मे प्रधान थी। आनन्द यद्यपि पूर्ण विरक्त थे, तथापि मनुष्यता उनके हृदय की सबसे बडी विशेषता थी। एक बार एक निर्धन व्यक्ति के परिवार में केवल दो छोटे-छोटे बच्चे रह गए थे। आनन्द ने शास्ता की आज्ञा से संघ मे लाकर उनका पालन किया। विरक्ति ने बौद्ध भिक्षुओ को सेवा के मार्ग से नहीं हटाया था, क्योकि यह उन्हे 'स्व-धर्म' के रूप में ही प्राप्त था।

उपनिषदों के ऋषि साधना के क्षेत्र में स्त्रियो की समानता के बडे पक्षपाती थे। योगवासिष्ठकार ने तो इस विषय मे स्त्रियो को बिलकुल पीछे नहीं माना है। पर सामाजिक आन्दोलन के रूप मे स्त्री के तेज को सबसे पहला प्रकर्ष भगवान् बुद्ध से ही मिला। आनन्द तो इस विषय मे अपने शास्ता से भी बढ़े हुए थे, ऐसा कहने मे भी कोई अत्युक्ति नहीं है। महाप्रजापती गोतमी (भगवान् की मौसी) ने भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति मांगी। तीन बार उसने प्रार्थना की; किन्तु तीनो बार भगवान् ने इन्कार कर दिया। बेचारी घबडाती हुई आनन्द के पास गई और सहायता के लिए प्रार्थना करने लगी। पहली बार तो आनन्द का भी प्रयत्न बेकार गया; क्योकि शास्ता ने कहा, "आनन्द! तुझे यह रुचिकर नहीं होना चाहिए कि तथागत के द्वारा साक्षात्कार किये हुए धर्म में स्त्रियां भी घर से बेघर

हो प्रव्रज्या ग्रहण करें।" परन्तु आनन्द इस प्रकार कब मानने वाले थे! दूसरे ढंग से उन्होंने काम लिया। कहा, "भन्ते! क्या तथागत-प्रवेदित-धर्म मे स्त्रियां स्रोत-आपत्तिफल, सकृदागामि-फल, अनागामि-फल और अर्हत्त्वफल को साक्षात्कार कर सकती है?"

"साक्षात् कर सकती है आनन्द!"

फिर क्या था, भगवान् को प्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या के लिए अनुज्ञा देने के लिए बाध्य होना पडा! भिक्षुणी-संघ की स्थापना आनन्द के प्रयत्न से ही हुई। भगवान् सिद्धान्ततः तो मानते थे कि स्त्रियां भी पुरुषो के समान ही ज्ञान-लाभ कर सकती है; परन्तु सामाजिक रूप से इसका आन्दोलन चलाने मे उन्हे झिझक अवश्य थी। आनन्द ने उन्हे इस कार्य के लिए उत्साहित कर लिया, परन्तु फिर भी शास्ता शिष्य से बडे थे। भगवान् ने भविष्यवाणी की कि स्त्रियो के संघ मे प्रवेश पा जाने के कारण अब उनका धर्म-विनय ५०० वर्ष से अधिक नहीं चलेगा, जबकि उनकी अनुपस्थिति मे वह १००० वर्ष भी चलता। अध्यात्म-साधना मे स्त्रियो की समानता के पक्षपाती होते हुए भी भगवान् स्त्री-पुरुषो के अधिक सम्पर्क के, फिर चाहे वह शुद्ध भावना से ही क्यो न हो, पक्षपाती नही थे। स्वयं स्त्रियो के पक्षपाती आनन्द ने जब ८० वर्ष के पक्के अनुभव वाले मरणासन्न तथागत बुद्ध से पूछा, "भन्ते! स्त्रियो के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे",* तो उन्होने यही कहा 'अदर्शन' अर्थात् न देखना।†

सुधारक आनन्द ने जब आगे पूछा, "दर्शन होने पर भगवान् क्या करें?"‡ तो भगवान् ने कहा, "बात न करना, आनन्द!"$

---

* कथ मय भन्ते मातुगामे पटिपजामा'ति ?

† अदस्सन आनन्दा ति'!

‡ दस्सने भगवा सति कथ पटिपज्जितब्ब' ति

$ अनालापो आनन्दा' ति!

'बात भी करनी पडे तो ?'*

"होश को संभाले रखना ।†

स्त्री-जाति के बडे हिमायती होने के कारण आनन्द का भिक्षुणी-संघ में विशेष आदर था। सम्भवतः इस विषय मे आनन्द भिक्षु-संघ में अद्वितीय थे। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि किस प्रकार थुल्लनन्दा और थुल्लतिस्सा भिक्षुणियां अपने 'आर्य आनन्द' का अपमान देखकर क्षुब्ध हो उठी थीं। उदयन की रानियो की आनन्द के लिए ५०० चादरों की भेंट के विषय मे हम पहले लिख ही चुके हैं। प्रसेनजित् के महलों से भी आनन्द को इसी प्रकार भेंटें मिली थीं। प्रसेनजित् की रानी मल्लिका और वासभ क्षत्रिया को तो आनन्द नियमित रूप से उपदेश करने जाते थे। एक बार महल की रानियो से पूछा गया कि वे भगवान् के ८० प्रधान भिक्षु-शिष्यों में से किसका प्रवचन सुनना पसन्द करेंगी ? उन्होंने सर्वसम्मति से आनन्द को ही चुना। निश्चय ही भिक्षुणी-संघ में आनन्द बहुत ही प्रेम और आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। कहा जाता है कि जब स्थविर आनन्द उपदेश करते थे तो स्त्रियां उन्हें घेर कर बैठ जाती थीं और बड़ी श्रद्धा से उन पर पंखा करती थीं। स्त्रियों के बीच अपने को स्त्री अनुभव करने की कला शायद आनन्द को अच्छी तरह आती थी।

भगवान् ने आनन्द को गतिवानो मे श्रेष्ठ कहा। 'गतिवान्' का अर्थ धम्मपाल (त्रिपिटक के कुछ ग्रन्थों के एक पाँचवीं शताब्दी ईसवी के टीकाकार) ने चलने वाला किया है, परन्तु हम यहां एक और विशेष अर्थ भी ले सकते हैं। आनन्द गतिशील भिक्षुओं में अग्रणी थे। स्त्रियों की स्थिति के विषय में वे अपने युग से बहुत आगे थे। एक बार उन्होंने भगवान् से यहां तक पूछा था कि स्त्रियां आस्थान-मण्डपों

---

* आलपन्तेन पन भन्ते कथ पटिपज्जितब्ब'ति ?

† सति आनन्द उपट्ठापेतब्बा'ति !

(विधान निर्मात्री सभाओ) मे क्यो नहीं बैठतीं और उन्हे अपने परिश्रम का पूरा मूल्य क्यो नहीं मिलता ? हम जानते हैं कि ये समस्याएँ आज भी हमारे समाज को उद्वेलित कर रही हैं। इसी से हम जान सकते हैं कि इस विषय मे आनन्द अपने युग से कितने आगे थे । इस अपनी गतिवत्ता के लिए उन्हे कुछ मूल्य भी चुकाना पडा, यद्यपि हम जानते हैं कि वह मूल्य बहुत कम था, क्योंकि बौद्ध संघ मे शुरू से ही स्वतन्त्र विचार के प्रकाशन और विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। प्रथम बौद्ध सङ्गीति मे ही स्थविरो ने आनन्द पर कुछ आरोप लगाए, जो इस प्रकार थे : (१) क्षुद्र-अनुक्षुद्र शिक्षापदो के विषय मे भगवान् से क्यो नही तुमने पूछा ? (२) भगवान् के कपडे को सीते समय उस पर पैर क्यो रक्खे ? (३) प्रथम बार भगवान् के शरीर की स्त्री से क्यों वंदना करवाई ? (४) भगवान् से कल्पभर ठहरने की प्रार्थना क्यो नहीं की ? और (५) तथागत के धर्म-विनय मे स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिए उत्सुकता क्यो पैदा की ? स्पष्टतः इन आरोपो मे दो आनन्द की स्त्री-जाति सम्बन्धी उदारता के सम्बन्ध मे थे। आनन्द स्वतन्त्र विचारक थे। उन्होने निर्भीकतापूर्वक कहा कि इन पांचों बातो मे से वे किसी मे भी कोई दोष नहीं देखते; किन्तु फिर भी संघ का आदर करते हुए विनयी आनन्द ने उनके लिए क्षमा-याचना की। संघ फिर भी व्यक्ति से बडा था।

आनन्द के किस-किस गुण की हम आज याद करे। हमें तो आज उनके विषय मे उसी एक तथ्य से विशेष आश्वासन मिलता है, जिसे उनके साथी उनमे बहुत काल तक एक अभाव मानते थे। आनन्द बहुत काल तक सम्यक् सम्बुद्ध के साथ रहे; परन्तु उनके जीवन की समाप्ति तक भी उनको परमज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई ! ज्ञानियों के समीप रहने से ही सब कुछ नही हो जाता ! बहुत कुछ अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर करता है। जब आनन्द ने अदम्य पुरुषार्थ आरम्भ किया तो अर्हत् होते देर न लगी। आज सम्यक् सम्बुद्ध लोक मे नही हैं, पर पुरुषार्थ

के आश्रय से हम जीते हैं। जो कुछ मनुष्य के पुरुषार्थ से लभ्य है, उसके लिए यत्न करते हैं। गतिवानो में श्रेष्ठ आनन्द ! गतिवान् तो आज हम भी हैं, किन्तु कहां जाना है, इसका दर्शन हमें नहीं। यदि गतिशीलता हो, किन्तु संयम-साधना मे प्रमाद नहीं; विरक्ति हो, किन्तु सेवा-धर्म मे कमी नहीं; उचित स्वाभिमान हो, किन्तु विनय का अभाव नही; सच्चे अर्थों मे क्षात्र-धर्म की अनुभूति हो, किन्तु शस्त्र-ग्रहण नहीं, तो आज भी भिक्षुपद के साक्षात्कार करने मे क्या देर है ? आनन्द इसी संस्कृति के प्रतीक थे। ऐसा करते हुए हम आज भी भगवान् बुद्ध के 'अन्तिम पुरुष' नही बनते ! पर आज हमे तो ठहरने का अवकाश कहां ? हम उतावले हो रहे हैं। जो वास्तव मे चंचलता है, उसे ही हम क्रियाशीलता मान बैठे हैं। हमे अपने लक्ष्य का पता नहीं। बिना चले तो हम बुद्ध-शासन को भी पूरा नहीं कर सकते। पर गति का लक्ष्य तो पहले से निर्धारित होना ही चाहिए। इसके लिए अ-ध्रुव से ऊपर उठकर ध्रुव की खोज की कुछ तो अपेक्षा है ही। जो अनित्य, दुःख और अनात्म है, उसे छोड़कर जो नित्य, आनन्द और आत्म-स्वरूप है, उसे साक्षात्कार करने की कुछ तो वांछा है ही। पर यह तो ध्यान, एकान्त चिन्तन और निरन्तर जागरूकता से ही सम्भव है। इसीलिए हे आनन्द ! हम सायं-प्रातः, प्रतिक्षण, प्रति सांस के साथ, आपके प्रति दिये हुए भगवान् के उस सर्वोत्तम उपदेश-वाक्य को ही अपने जीवन में क्रियान्वित करना चाहते है, जिसे हम आपके साथ उनके संलाप का सर्वोत्तम रत्न मानते हैं—"आनन्द ! यह सामने वृक्षों की छाया है। यह सूने घर हैं। आनन्द ! ध्यान करो, प्रमाद मत करो। देखो, पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।"

: ६ :

अंगुलिमाल

भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से बडा महत्त्वपूर्ण था। शब्द की रेखाओ मे उसकी सीमाएँ नहीं बांधी जा सकतीं। फिर भी उनके जीवन की एक बडी विशेषता, जो उनकी पाषाण-बद्ध मूर्तियो से भी आज बडी पुलकन के साथ निकलती दिखाई देती है, वह है उनके व्यक्तित्व मे मैत्री-धर्म का पूर्ण प्रकाश, अ-परिमाण प्रीति का साक्षात् परिपूर्ण दर्शन। भगवान् बुद्ध के शिष्य होने के लिए यह आवश्यक शर्त थी, "भिक्षुओ! यदि चोर और डाकू दोनों ओर दस्ते वाले आरे से तुम्हारे एक-एक अंग को भी काटें, तो वहाँ पर भी जो अपने मन को दूषित करे,वह मेरे शासन के अनुकूल आचरण करने वाला नही है।"* अपने शिष्यो मे इस हद तक अहिंसा की प्रतिष्ठा करना तथागत का एक बल था। इसी बल के किंचित् दर्शन हम अंगुलिमाल के जीवन-परिवर्तन म करते हैं।

अंगुलिमाल कोशल देश का एक प्रसिद्ध डाकू था। कहा जाता है कि उसने आदमियो को मार-मार कर उनकी उँगलियो की माला बनाकर अपने गले मे पहन रक्खी थी। इसीलिए उसका नाम अंगुलि-माल पड गया था। वैसे उसका क्या नाम था, यह किसी को पता नहीं था। कोशल देश मे उसने अपनी निर्दय हत्याओं से बडी तबाही मचादी थी। गाँव-के-गाँव उसके डर से खाली हो गए थे। अन्त मे जनता ने दुःखी होकर राजा से प्रार्थना की। कोशल देश का राजा उस

* महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम १।३।८)

समय प्रसेनजित् था। परन्तु वह भी क्या करता ? जगह-जगह उसने पुलिस की टुकडियाँ भिजवादी। पुलिस का प्रबन्ध उस समय था ही। परन्तु वह डाकू हाथ न आया। राजा प्रसेनजित् स्वयं भी घोड़े पर सवार होकर बहुत दौड-धूप कर रहा था, परन्तु उसके भी हाथ अंगुलिमाल नही आया। अंगुलिमाल की माता जो कोशल देश की ही थीं इन सब हलचलो को देख रही थी। उससे न रहा गया। अपने पुत्र की जान खतरे मे देख वह चुपचाप उसे समझाने चली। इधर अंगुलिमाल ने यह व्रत ले लिया था कि वह १००० आदमियो को मारकर उनकी एक-एक अंगुली को इकट्ठा कर उन सबकी एक माला बनाकर पहनेगा। इनमे सिर्फ एक ही प्राणी की उँगली की कमी थी। इसी बीच उस नृशंस ने अपनी माता को दूर से आती हुई देखा। वह उसे मारने को दौडा। उसकी मातृ-प्रेम की भावना भी समाप्त हो चुकी थी।

इसी बीच भगवान् बुद्ध भी ३० योजन की दूरी से अंगुलिमाल को समझाने के लिए चल दिए कि वह इन दुष्कृत्यो को छोड दे। रास्ते मे भगवान् को अनेक किसान, ग्वाले और राहगीर मिले, जिन्होने उन्हे समझाया—"भन्ते ! इस रास्ते से न जांय। इस रास्ते मे एक निर्दय अंगुलिमाल नामक डाकू रहता है। उसने पूरे-के-पूरे ग्रामो, निगमो (कस्बो) और जन-पदो को मनुष्यो से खाली कर दिया है। वह मनुष्यों को मार-मार कर उनकी उँगलियो की माला पहनता है। इस मार्ग पर बीस-तीस तक आदमी इकट्ठा होकर जाते है तब भी वे अंगुलिमाल के हाथ मे पड जाते हैं।" भगवान् मौन धारण कर आगे चलते ही गए।

जैसे ही अंगुलिमाल अपनी माँ को मारने के लिए दौड रहा था, भगवान् उसके बीच के रास्ते मे जा खडे हुए और लगे अंगुलि-माल की तरफ निर्भीकता-पूर्वक बढने। अंगुलिमाल ने उन्हें देखकर तिरस्कार-पूर्वक कहा, "खडा रह, श्रमण !"

भगवान् ने उत्तर दिया—"मै खड़ा हूँ अंगुलिमाल ! तू भी स्थित हो !" अंगुलिमाल को आश्चर्य हुआ कि यह श्रमण स्वयं तो चला आ रहा है और कहता है, "मै स्थित हूँ।" साथ ही अंगुलिमाल को भगवान् की अन्तःस्थित मैत्री-भावना ने इस बीच कुछ-कुछ अभिभूत कर लिया। यदि मैत्री-भावना से स्वयं चित्त आप्लावित है, तो यह असम्भव है कि वह दूसरे को आप्लावित न कर सके। एक दम अंगुलिमाल नरमी के स्वर मे पूछने लगा, "श्रमण ! तुम स्वयं चलते हुए कहते हो—'स्थित हूं', और मुझ खड़े हुए को कहते हो—तू स्थित हो। श्रमण ! मै पूछता हूँ कि कैसे तुम स्थित हो और मै कैसे स्थित नहीं हूँ ?"

"अंगुलिमाल ! सारे प्राणियों के प्रति वैर छोड़ देने के कारण मैं सदा स्थित हूँ। तू प्राणियों मे असंयमी है,इसीलिए स्थित नहीं है।"* शब्द तो इतने भी बहुत थे। परन्तु वास्तविक कार्य तो शब्दो ने नहीं, बल्कि हृदय की अन्तर्भावित मैत्री की परिपक्व भावना ने ही किया, जिसके शब्द मौन होते हैं, किन्तु जो मनुष्यों के जीवन मे क्रान्ति पैदा कर देने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। इसी शक्ति का शिकार अंगुलिमाल भी होगया—"बहुत दिनो से मैंने महर्षि का पूजन नहीं किया। यह श्रमण मुझे महावन मे मिल गया। मैं इसकी धर्म-युक्त गाथा को सुन कर चिरकाल के पाप को छोड़ूँगा।"

डाकू ने सुगत के पैरो की वन्दना की और तलवार और अन्य हथियार खोह, झरने और नालों मे फैंक दिये। इसी समय उसने भगवान् से प्रव्रज्या भी मांगी। उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए करुणामय महर्षि ने अंगुलिमाल से कहा, "आ भिक्षु ! यह धर्म सु-आख्यात है। अच्छी प्रकार दुःख के विनाश के लिए तू ब्रह्मचर्य का आचरण कर।" यही अंगुलिमाल की प्रव्रज्या हुई। जिसने

---

* अंगुलिमाल-सुत्त (मज्झिम० २।४।६)

अहिंसा के शंख से एक समय के लिए चारो दिशाओ को परिपूरित कर दिया, उस देव और मनुष्यों के अद्भुत शास्ता के लिए यह कार्य कुछ अधिक न था।

इधर भगवान् बुद्ध अंगुलिमाल को भिक्षु बनाकर अपने साथ लाये, उधर राजा प्रसेनजित् उसकी खोज मे पाँच सौ घुडसवारों को लिये हुए दौड-धूप कर रहा था। अकस्मात् वह भगवान् बुद्ध के पास ही आ निकला। भगवान् ने पूछा, "क्यो महाराज! क्या तुझ पर राजा बिम्बिसार बिगडा है, या वैशाली के लिच्छवि, या दूसरे विरोधी राजा !क्यो इन सिपाहियों को लिये हुए तू इतनी दौड-धूप कर रहा है ?"

"भन्ते! न मुझ पर मगध-राज बिम्बिसार बिगडा है, न वैशाली के लिच्छवि, न दूसरे विरोधी राजा। भन्ते! मेरे राज्य में अंगुलिमाल नामक डाकू मुझे बडा तंग कर रहा है। मैं उसी को पकडने जा रहा हूं।"

"यदि महाराज! तू अंगुलिमाल को केश और दाढी मुँड़ाये, गेरुए वस्त्र पहने, प्रव्रजित हुए, जीव-हिंसा-विरत, अपरिग्रही, झूठ से विरत, एक बार आहार करने वाले, ब्रह्मचारी, शीलवान् और धर्मात्मा के रूप मे देखे तो उसका क्या करे ?"

"भन्ते! मै उसका उठकर स्वागत करूँगा, आसन के लिए निमन्त्रित करूँगा। वस्त्र, भोजन, निवास-स्थान, ओषधि आदि के विषय मे उससे पूछूँगा और धर्म से उसकी रक्षा करूँगा। पर भन्ते! उस दुराचारी पापी को ऐसा शील-संयम कहां होगा ?" भगवान् ने अंगुलिमाल को जो उनके पास ही बैठे हुए थे, बांह से पकडकर प्रसेनजित् के सामने करते हुए कहा—"महाराज! यह है अंगुलिमाल!" प्रसेनजित् को तो अंगुलिमाल का नाम सुनते ही कँपकँपी आ गई। निश्चय ही अंगुलि-माल इतना ही भयंकर डाकू था और विना सम्यक् ज्ञान के भय तो कहाँ से छूटे ? भगवान् ने प्रसेनजित् को धीरज दिया, "महाराज!

डरो मत। अब इससे तुम्हें भय नहीं करना चाहिए।" प्रसेनजित् का डर दूर हो गया। उसने अंगुलिमाल से पूछा—"आर्य अंगुलिमाल हैं ?"

"हां, महाराज !"

"आर्य के पिता किस गोत्र के, माता किस गोत्र की ?"

"महाराज ! पिता आर्य गार्ग्य, माता मैत्रायणी।"

प्रसेनजित् ने सत्कार प्रदर्शित करते हुए कहा—"आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र आनन्द से रहे ! मै आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र की वस्त्र, भोजन, निवास-स्थान और ओषधि-उपचार आदि वस्तुओ से सेवा करूँगा।" परन्तु आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र (भूतपूर्व अंगुलिमाल) को तो अब क्या इच्छा रही थी ? उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "महाराज ! मेरे तीनो वस्त्र पूरे हैं।" प्रसेनजित् को भी क्षण भर के लिए अनुभव हुआ कि शस्त्र-बल से भी एक बल विशेष शक्ति-सम्पन्न है—"आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! कैसा है आपका अनोखा ढंग जिससे आप अ-दान्तो को दमन करते, अ-शान्तों को शमन करते और अ-मुक्तो को मुक्त करते हैं ! जिनको हम दण्ड से भी, शस्त्र से भी, दमन न कर सके, उनको भन्ते ! आपने बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, दमन कर दिया।"

भिक्षुपन की अवस्था मे एक बार स्थविर अंगुलिमाल कहीं भिक्षा करने गए। वहां उन्होंने एक स्त्री को जिसके गर्भ मे मृत शिशु था बडे दुःख मे चिल्लाते देखा। इससे उन्हे बड़ी करुणा आई। जिसने हजारो निरपराध व्यक्तियो को बिना एक बार 'आह' करते निर्दयता-पूर्वक मारा था, वह इस एक स्त्री के दुःख से जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, विकल हो उठा। करुणा का भी तो कितना प्रसारक प्रभाव होता है और अब तो अंगुलिमाल 'करुणा के देव' के साथ ही रहते थे। भिक्षा से लौटकर शास्ता से कहा, "भन्ते ! मैं आज भिक्षा के लिए गया था। वहां मैंने एक स्त्री को बहुत दुःखी

देखा। मुझे विचार हुआ—"हाय! संसार में प्राणी कितना दुःख पा रहे हैं!"

"तो अंगुलिमाल! जहां वह स्त्री है वहां तू जा। जाकर उस स्त्री से कह—भगिनि! यदि मैंने जन्म से लेकर आज तक जानकर प्राणिवध नहीं किया, तो इस सत्य से तेरा मंगल हो, गर्भ का भी मंगल हो।"

"भन्ते! यह तो निश्चय ही मेरा जानकर झूठ बोलना होगा। भन्ते! मैंने तो जानकर बहुत से प्राणि-वध किये हैं।"

"अंगुलिमाल! तो तू उस स्त्री के पास जाकर यह कह—भगिनि! यदि मैंने आर्य-जन्म में पैदा होने* के समय से लेकर जानकर प्राणि-वध नहीं किया तो तेरा कल्याण हो, तेरे गर्भ का भी कल्याण हो।" अंगुलिमाल ने ऐसा ही किया और आश्चर्य कि उस स्त्री का प्रसव ठीक हो गया और उसका शिशु भी स्वस्थ उत्पन्न हुआ।

अंगुलिमाल यद्यपि भिक्षु हो गये और उन्होंने अपने जीवन को भी सम्यक् मार्ग पर लगा लिया, फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में लोग उन पर संशय ही करते रहे। एक बार जब स्थविर अंगुलिमाल श्रावस्ती में भिक्षा के लिए गये तो कुछ लोगों ने उन पर ढेले आदि फैंके और उन्हें डंडो से बुरी तरह पीटा भी। सम्भवतः यह उनके स्वभाव-परिवर्तन की परीक्षा के लिये ही किया गया था। इससे उनके शरीर में बहुत चोट आई, खून बहने लगा और सिर भी फट गया; किन्तु प्रतिहिंसा की भावना तो अब कहां थी? स्थविर ने अपूर्व शान्ति के साथ अपने इधर-उधर बिखरे हुए पात्रों को समेटा और वहीं ध्यान में बैठ गए। तदुपरान्त स्थविर अंगुलिमाल इसे अपने कर्म का ही विपाक समझते हुए बडे शान्त-भाव

---

* अर्थात् जब से सर्वज्ञ बुद्ध की शरण ग्रहण की, उस समय से (यतो अहं सब्बञ्ञुतबुद्धस्स अरियस्स अरियाय जातिया जातो)।

से शास्ता के पास आए। शास्ता ने उनकी इस प्रशान्त-गम्भीरता को देखकर उन्हें अपने वास्तविक अर्थों में ही "ब्राह्मण" कह कर पुकारा और कहा—"ब्राह्मण! तूने स्वीकार कर लिया। ब्राह्मण! तू ने स्वीकार कर लिया। जिस कर्म-फल के लिए अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष, अधम योनियों में पचना पडता, उस कर्म-विपाक को ब्राह्मण, तू इसी जन्म मे भोग रहा है।" स्थविर अंगुलिमाल ने ध्यानावस्थित होकर इसी समय विमुक्ति-सुख को अनुभव किया और वे अर्हत् हो गए, अर्थात् उन्होंने साक्षात्कार किया कि अब मेरा "जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-पालन समाप्त हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ और करने को नहीं है।"

"ब्राह्मण" अंगुलिमाल इन अमूल्य शब्दों मे अपने जीवन-परिवर्तन की स्मृति को हमारे लिए छोड गये है :

"दिशाएँ मेरी धर्म-कथा को सुनें, दिशाएं बुद्ध-शासन में जुटें। दिशाएँ उन सन्त पुरुषो का सेवन करें जो धर्म के ही लिए प्रेरित करते है।

"दिशाएँ क्षान्तिवादियों के, मैत्री-प्रशंसकों के, धर्म को समय पर सुनें और उसके अनुसार चलें।

"वह मुझे या किसी दूसरे को नहीं मारेगा, वह परम शान्ति को पाकर स्थावर-जंगम की रक्षा करेगा।

"जैसे नाली वाले पानी ले जाते हैं, बाण वाले बाण को सीधा करते हैं, बढई लकडी को सीधा करते हैं, वैसे ही पंडित अपने को संयमित करते हैं।

"कोई दण्ड से दमन करते हैं, कोई शस्त्र और कोडे से भी; तथागत ने बिना दण्ड, बिना शस्त्र के ही मुझे संयमी बना दिया है।

"पहले का हिंसक, आज मेरा नाम अहिंसक है। आज मैं यथार्थ नाम वाला हूँ, किसी की हिंसा नहीं करता।

"पहले मै अंगुलिमाल नाम से प्रसिद्ध डाकू था। बाद में

डूबते बुद्ध की शरण आया।

"पहले मै अंगुलिमाल नाम से प्रसिद्ध खून रंगे हाथ वाला था। देखो बुद्ध की शरणागति के प्रभाव को! आज मेरा भव-जाल कट-गया। मैंने बुद्ध के शासन को पूरा कर लिया।"*

---

* थेरगाथा, पृष्ठ ६५-६६ (उत्तम भिक्षु द्वारा नागरी अक्षरो में प्रकाशित संस्करण)।

: ७ :

वक्कुल स्थविर

कुछ समालोचकों ने बौद्ध धर्म को सदाचार की स्मृति कहा है। उनका यह कहना इस अर्थ मे ठीक है कि बौद्ध धर्म प्रधानतया आत्म-शुद्धि का मार्ग है और उसके साधनों की खोज वह जीवन की जाग्रत अवस्थाओं से लेकर अन्तःसंज्ञा के सूक्ष्म क्षेत्रो तक बडे साहस के साथ करता है। कामनाओं के लोक से आरम्भ कर वह चित्त को उस लोकोत्तर भूमि मे ले जाना चाहता है जहां राग, द्वेष, मोह से उसका छुटकारा हो जाता है और उस अत्यन्त परिशुद्ध, सर्वमलरहित, विशुद्धि का वह अनुभव करता है, जिसकी संज्ञा निर्वाण है। इस विशुद्धि का मार्ग ही बुद्ध-धर्म है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन का यह अर्थ लिया जाय (जिस अर्थ मे कुछ ईसाई लेखको ने इसे प्रायः प्रयुक्त किया है) कि बौद्ध धर्म नैतिक नियमों का एक संग्रह और विश्लेषण मात्र है और उसमे उस रागात्मक तत्व का अभाव है जो कर्म-प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तो यह गलत है। बौद्ध धर्म कोरे उपदेशों का संग्रह नहीं है। उसमे ठोस जीवन है। शास्ताका शासन न केवल धर्म (सत्य) है और न केवल विनय। वह धर्म और विनय दोनो है। भगवान् बुद्ध का अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील-समन्वित रूप जिसकी तुलना में उषा की निष्पाप कान्ति और पवित्रता भी फीकी है, मनुष्य-हृदय को वह प्रेरणा देता है जिससे मनुष्यत्व की उच्चतम भूमि का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह साधना कहां तक जा सकती है, इसका एक चित्र स्थविर वक्कुल के

जीवन में द्रष्टव्य है।

वक्कुल स्थविर भगवान् बुद्ध के उन इनेगिने शिष्यों मे से थे, जिनकी साधना बहुत बढी-चढ़ी थी। उनका कठिन तप और उग्र साधना महाकाश्यप के समान ही थी, किन्तु सारिपुत्र के समान धर्म-प्रवचन करने मे उनकी रुचि नहीं थी। यही कारण है कि उनके अधिक उपदेश हमे त्रिपिटक में उपलब्ध नहीं होते। वक्कुल एक ऐसे साधक के रूप मे चित्रित किये गए हैं जिनका व्रतो का पालन बडा परिपूर्ण है; किन्तु जो दूसरो के लिए उनका उपदेश या अनुशासन नहीं करते। इसीलिए उनके विषय मे कहा गया है—"तयिदं आयुस्मा वक्कुलो धुतो न धुतवादोति"[1] अर्थात् यह आयुष्मान् वक्कुल स्वयं अवधूत तो हैं, किन्तु अवधूत-व्रतो के उपदेशक नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि इस विचित्र साधक मे लोक-संग्रह का भाव कम था। इन्हें हमारे पौराणिक साहित्य के जड़ भरत के साथ भली प्रकार रक्खा जा सकता है या महाभारत के उस ऋषि के साथ जिसने अपने विषय में कहा है—उपदेशेन वर्तामि नानु-शास्मीह कंचन। अर्थात् मैं स्वयं उपदेश से बरतता हूं, पर किसी को उसका उपदेश नहीं करता। सारिपुत्र के जीवन की-सी वह परिपूर्णता यहाँ नहीं दिखाई देती जिसमें स्वयं आचरण के साथ दूसरो के लिए उसका उपदेश अर्थात् समाज में व्यापक प्रचार भी उतना ही आवश्यक है। फिर भी स्थविर वक्कुल के जीवन का हमारे लिए एक आकर्षण है।

वक्कुल की जन्म-कथा भी बड़ी विचित्रतापूर्ण है। कहा जाता है कि वक्कुल का जन्म कौशाम्बी की परिषद् के एक सभासद् के घर में हुआ था। जब दाई नवजात शिशु को यमुना में नहला रही थी तो

१, विसुद्धि-मग्ग २-८२ मे उद्धृत (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

उसकी असावधानी से वह नदी मे गिर गया। एक मछली उसे निगल गई। बनारस (वाराणसी) के एक सभासद के यहां मछुए ने उस मछली को बेचा। मछली के पेट मे से बच्चा जीवित दशा में निकाला गया। जब इस बात का ढिंढोरा पीटा गया तो मालूम हुआ कि बच्चा कौशाम्बी के एक सभासद का है। राजा के निर्णय के अनुसार उस बच्चे पर दोनों कुलों का समान अधिकार माना गया। दो कुलों का होने के कारण ही बच्चे का नाम 'बा-कुल' 'वक्कुल' 'वक्कुल' पड़ा। कहानी चमत्कारपूर्ण अवश्य है, किन्तु इसमे सत्यांश कितना है, यह कहना कठिन है। अधिक काल तक गृहस्थ-धर्म का पालन कर, एक दिन बुद्ध-प्रवचन सुनने पर, वक्कुल घर से बेघर हो प्रव्रजित हो गये। यही हमारे लिए कहानी का आदि हो सकता है।

एक दिन वक्कुल स्थविर राजगृह के समीप निवास कर रहे थे। वहां उनसे अपने एक पुराने मित्र अचेल नग्न काश्यप की भेंट हो गई। दोनों में एक दूसरे की साधना पर संलाप होने लगा। वक्कुल से उनके अनुभवों पर बातचीत करते हुए अचेल काश्यप ने पूछा,

"मित्र वक्कुल! संन्यासी हुए आपको कितना समय हुआ?"

"मित्र, मुझे अस्सी वर्ष हो गये!"

"इन अस्सी वर्षों मे मित्र, तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया?"

"मित्र काश्यप! मुझ से इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए कि तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया। बल्कि यों पूछना चाहिए—इस अस्सी वर्ष के समय मे तुम्हें कितनी बार विषय-वासना उत्पन्न हुई? मित्र, इन अस्सी वर्षों मे मैं एक बार भी अपने अन्दर काम-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।"

अचेल काश्यप रोमांचित हो उठा। वक्कुल स्थविर ने आगे अपने अनुभवों को बतलाते हुए कहा—"अस्सी वर्ष के समय मे एक बार भी, द्वेष-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना मैं अपने चित्त मे नहीं जानता।

"हिंसा-सम्बन्धी विचार का अपने चित्त मे उत्पन्न होना नहीं जानता।

"द्रोह-सम्बन्धी विचार का अपने चित्त मे उत्पन्न होना नहीं जानता।

"गृहस्थो का दिया वस्त्र पहनना नहीं जानता।

"कैंची आदि से कतरे वस्त्रो को पहनना नहीं जानता।

"सुई से सिंये वस्त्र को पहनना नहीं जानता।

"सब्रह्मचारियों के वस्त्र बनाना नहीं जानता।

"निमन्त्रण खाना नहीं जानता।

"गृहस्थ के घर मे बैठना नहीं जानता।

"गृहस्थ के घर में बैठकर भोजन करना नहीं जानता।

\+ \+ \+

"स्त्रियो के आकार-प्रकार का चिन्तन करना नहीं जानता।

"स्त्रियो को चार पद की गाथा तक भी उपदेश करना नहीं जानता।

"भिक्षुणियो को भी कभी धर्म उपदेश किया हो—नही जानता।

"किसी को कभी प्रव्रज्या देना नहीं जानता।

"स्नानगृह मे नहाना कैसा होता है, नहीं जानता।

"लेप से नहाना नहीं जानता।

"सब्रह्मचारियो (गुरुभाइयो) से देह मलवाना नहीं जानता।

"क्षण भर के लिए भी किसी से देह मलवाना नहीं जानता।

"क्षण भर के लिए भी किसी बीमारी का उत्पन्न होना नहीं जानता।

"हर्रे के टुकडे के बराबर भी कभी औषध का खाना नहीं जानता।

"खाट बिछाकर सोना नहीं जानता।

"शय्या पर लेटना नहीं जानता।

"वर्षा मे भी गाँव के भीतर रहना नहीं जानता।"*

* वक्कुल सुत्तन्त (मज्झिम. ३।३।४)

इस प्रकार की लोकोत्तर साधना स्थविर वक्कुल की थी। बुद्ध-उपदेश सुनने के सातवें दिन ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। जैसा कि उन्होंने कहा भी है—"सप्ताह भर ही मैंने चित्त-मल-युक्त हो राष्ट्र का अन्न खाया। आठवें दिन मुझे शुद्ध अर्हत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ।" आश्चर्य नहीं कि अपने स्वस्थ, खिलते हुये चेहरे वाले भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए, एक दिन भगवान् ने उद्घोषित किया, "भिक्षुओ! मेरे स्वस्थ नीरोग शिष्य भिक्षुओं मे यह वक्कुल ही सबसे आगे है।"†
१६० वर्ष की आयु में स्थविर वक्कुल ने शरीर छोड़ा।

---

† एतदग्ग भिक्खवे मम सावकान भिक्खूनं अप्पाबाधानं यदिदं बक्कुलो'ति। अगुत्तर-निकाय, मिलिन्दपञ्हो, मेण्डकपञ्हो, मे उद्धृत।

: ८ :

अनाथपिंडिक

अनाथपिंडिक श्रावस्ती (सावत्थी)* का एक धनवान् सेठ (सेट्ठि)† था । श्रावस्ती भगवान् बुद्ध के जीवन-काल मे एक बडी समृद्ध नगरी थी । आचार्य बुद्धघोष के अनुसार उस समय इसमें ५७,००० परिवार रहते थे और काशी-कोशल प्रदेश की, जिसमे ८०,००० गांव बसे हुए थे, यह सबसे बडी नगरी समझी जाती थी । इसीलिए कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने इसे अपनी राजधानी बनाया था । दूर-दूर के सौदागर श्रावस्ती के बाजारो मे आकर पूछते, "यहां क्या सामान है ?" (किं भंडं अत्थि) तो उन्हे उत्तर मिलता, "सभी कुछ हैं" (सब्बं अत्थि) । इसी उत्तर के आधार पर इस नगर का नाम 'सावत्थी' (सब्बं अत्थि) पडा । एक किंवदन्ती यह भी है कि 'सवत्थ' नामक मुनि के यहां रहने के कारण इस नगर का नाम 'सावत्थी' पडा । श्रावस्ती अचिरवती‡ नदी के किनारे पर बसी हुई थी । साकेत यहां से करीब १८ मील, राजगृह दक्षिण-पूर्व मे १२५ मील, संकाश्य नगर ६० मील और तक्षशिला ४४१ मील दूरी पर स्थित थे । एक सडक श्रावस्ती से वैशाली होती हुई राजगृह जाती थी । इसी सडक पर कपिलवस्तु, कुसीनारा, पावा और भोग नगर आदि शहर बसे हुए थे,

* वर्तमान सहेट-महेट, राप्ती नदी के किनारे पर।

† श्रेष्ठी या नगर-सेठ उस समय एक सम्माननीय राजकीय पद था, जिस की तुलना आजकल के 'मेयर' से की जा सकती है ।

‡ आधुनिक राप्ती नदी ।

जहां यात्रियों की सुविधा के लिए विश्रामगृह भी बने हुए थे। एक और दूसरी सडक श्रावस्ती से दक्षिण की ओर होती हुई कौशाम्बी को जाती थी। श्रावस्ती और साकेत के बीच में तोरणवस्तु नामक नगर स्थित था। भगवान् बुद्ध के समय मे भारतवर्ष मे छः प्रसिद्ध नगरों का वर्णन मिलता है। उन्हीं में से एक श्रावस्ती भी थी। अन्य पांच प्रसिद्ध नगर थे—चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी कौर वाराणसी। तथागत के यहां बहुत काल तक रहने का सौभाग्य श्रावस्ती को मिला था। इसी प्रसङ्ग मे अनाथपिंडिक भी हमारी स्मृति का विषय बन गया है।

अनाथपिंडिक कुल से वैश्य, पेशे से व्यवसायी और गुण-स्वभाव से विरक्त महापुरुष था। श्रावस्ती के चारों ओर दूर-दूर तक उसका कारबार फैला हुआ था। काशी-प्रदेश में भी उसका एक गांव था, जहां से वह मुनीमों की सहायता से व्यापार करता था। अनाथपिंडिक का वास्तविक नाम सुदत्त था। अनाथ स्त्री-पुरुषों को भोजन (पिंड) देने और उनके जीवन की व्यवस्था करने के कारण वह 'अनाथपिंडिक' कहलाता था। अनाथपिंडिक की भार्या का नाम पुण्यलक्षणा* था, जो राजगृह के नगर-सेठ की बहिन थी। अनाथपिंडिक के एक लडके का भी जिक्र मिलता है जिसका नाम काल था। अनाथपिंडिक के तीन लडकियां भी थीं जिनके नाम थे—महासुभद्रा, चूलसुभद्रा और सुमना। पहली दो लडकियां विवाह होने के पश्चात् अपने-अपने पतियों के घर चली गईं। तीसरी लडकी (सुमना) उपयुक्त वर न मिलने के कारण शोकसन्तप्त होकर मर गई। अनाथपिंडिक के पिता का नाम

---

* जो वास्तव मे 'यथा नाम तथा गुण' थी। जातक के एक सुन्दर कथानक के अनुसार अनाथपिंडिक के भाग्य का गुप्त रहस्य उसकी भार्या के मस्तक में बसता था। सम्भवतः अपने पति की इतनी उन्नति का कारण यह गृह-लक्ष्मी ही थी।

सुमन गृहपति था।

भगवान् बुद्ध से प्रथम साक्षात्कार अनाथपिंडिक का उस समय हुआ जब एक बार व्यापार के काम से उसे राजगृह जाना पड़ा। उस समय भगवान् बुद्ध तथागत बुद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम वर्ष मे राजगृह मे ही विहार कर रहे थे। अनाथपिंडिक के साले, राजगृह के नगर-सेठ, ने अगले दिन के लिए उन्हे निमन्त्रण दे रक्खा था। वह उसीकी तैयारी मे लगा हुआ था। अनाथपिंडिक की उतनी आवभगत नही हो सकी जितनी पहले हुआ करती थी। अनाथपिंडिक बडे आश्चर्य में पड गया कि आखिर इतनी बडी तैयारियां किसलिए की जा रही हैं। उसने पूछा, "गृहपति! क्या तेरे यहाँ कोई विवाह-उत्सव है, या महायज्ञ है, या मगधराज बिम्बिसार को तूने निमन्त्रण दे रक्खा है, जिससे तू इतनी तैयारी मे लगा हुआ है?" राजगृह के सेठ ने उत्तर दिया, "गृहपति! न मेरे यहां कोई विवाह-उत्सव है, न मगधराज बिम्बिसार को ही मैंने निमन्त्रण दिया है। मेरे यहां कल एक बडा यज्ञ है। सङ्घ-सहित बुद्ध कल भोजन के लिए मेरे यहां निमन्त्रित है।" अनाथपिंडिक सन्नाटे में आ गया। न जाने कब-कब के पुण्य-संस्कार उस व्यवसायी के हृदय मे उदय हुए, जिससे 'बुद्ध' का नाम-मात्र सुनते ही उसके रोमाञ्च हो गया। उसकी सुध-बुध ऐसी हो गई, जैसी 'कृष्ण' नाम सुन कर भौचक्की हुई प्रेम-योगिनी व्रजाङ्गनाओं की हो जाया करती थी।

"गृहपति! तू 'बुद्ध' कह रहा है?"

"हां, गृहपति! मै 'बुद्ध' कह रहा हूँ।"

"बुद्ध?"

"हां, बुद्ध!"

"बुद्ध?"

"हां, बुद्ध!"

"बुद्ध यह शब्द भी लोक में दुर्लभ है। गृहपति! क्या इस समय उन पूर्ण-पुरुष 'बुद्ध' के दर्शनों के लिये जाया जा सकता है?"

"गृहपति ! यह समय उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के पास जाने का नहीं है।"

इच्छा न रहते भी अनाथपिंडिक यह सोच कर कि अब कल ही भगवान् बुद्ध के दर्शनों के लिए जाऊँगा, सो रहा। किन्तु उसका संवेग बहुत तीव्र हो रहा था। 'बुद्ध' यह शब्द उसके सारे मनोविज्ञान को उद्वेलित कर रहा था। रात को सवेरा समझ तीन बार उठा। इतनी व्याकुलता उसे उस समय बुद्ध दर्शनों की हो रही थी। रात के अँधेरे मे मे ही चल दिया। रास्ते मे उसे कुछ डर भी मालूम हुआ, जिससे एक बार उसने लौटने का मन मे विचार किया, किन्तु अन्तर्नाद रूपी सहायक यक्ष उससे कह रहा था—"अनाथपिंडिक ! सौ हाथी-घोडे, सौ खच्चरों के रथ, मणि-कुण्डल पहने सौ हजार कन्याएँ भी एक पद के कथन के सोलहवे भाग के मूल्य के बरावर नही है। चल गृहपति ! चल, आगे बढना ही श्रेयस्कर है, लौटना नहीं।" गृहपति ने बढ कर देखा कि आगे सम्यक् सम्बुद्ध उषा के शीतल पवन मे इधर-उधर घूम रहे हैं। प्रणामाञ्जलि की। भगवान् टहलने की जगह से नीचे उतर आए। "आओ सुदत्त"—कह कर अनाथपिंडिक को बुलाया।* यह सुन कर कि तथागत मुझे मेरे नाम से बुला रहे है, अनाथपिंडिक को बडी प्रसन्नता हुई। वह भगवान् के पैरो मे लिपट गया। भगवान् उस रात चौडे मे पत्तों पर ही सोये थे। बडी आत्मीयतापूर्वक श्रेष्ठी ने पूछा, "भन्ते ! भगवान् को नींद तो सुख से आई?" भगवान् का उत्तर था—

"निर्वाण-प्राप्त ब्राह्मण सदा सुख से सोता है, क्योंकि वह शीतल और दोष-रहित हो काम-वासना मे लिप्त नहीं होता।

"सारी आसक्तियों को हटा कर, हृदय से भय को दूर कर, चित्त

---

* भगवान् बुद्ध अनाथपिंडिक को उसके वास्तविक नाम सुदत्त से ही पुकारा करते थे। अनाथपिंडिक भी इससे 'सुर-नर-मुनि दुर्लभ' सुख अनुभव करता था।

की शांति को प्राप्त कर उपशांत हो वह सुख से सोता है।"

यही भगवान् का अनाथपिंडिक के प्रति प्रथम उपदेश था। अनाथपिंडिक को श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह गृहस्थ शिष्य (उपासक) दीक्षित हुआ।

राजगृह लौट कर अनाथपिंडिक ने अपने खर्चे से भोजन तैयार करवा कर सङ्घसहित बुद्ध को निमन्त्रित किया। मगध-राज बिम्बिसार तक ने (जिसके साथ अनाथपिंडिक के प्रायः समानता के ही सम्बन्ध थे) इस विषय मे उसकी सहायता करने के लिये कहा, किन्तु श्रेष्ठी ने सब काम अपने ही हाथो से किया। भोजन भी उसने अपने हाथो से ही परोसा। भोजनोपरान्त उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते! अच्छा हो यदि भिक्षु-सङ्घ के साथ भगवान् श्रावस्ती मे वर्षावास करना स्वीकार करें।" भगवान् ने मौन से स्वीकृति देते हुए कहा—"गृहपति! तथागत एकान्त, शून्य स्थान मे अभिरमण करते हैं।"

"समझ गया भगवन्! जान गया सुगत।" श्रद्धावनत श्रेष्ठी का उत्तर था।

राजगृह मे अपना कार्य समाप्त कर अनाथपिंडिक श्रावस्ती चला गया। रास्ते भर वह इसी आनन्द की अनुभूति मे विभोर होता गया—"लोक मे बुद्ध उत्पन्न हो गये हैं, उन भगवान् को मैंने निमन्त्रित किया है। वे इस मार्ग से आयेगे।" रास्ते मे वह जहाँ-तहाँ बगीचे, कुएँ आदि बनवाता गया ताकि आते हुए तथागत और उनके शिष्यो को कष्ट न हो। 'आदेय्यवचो' (जिसके वचनो का सब आदर करें) तो वह था ही। जो-जो आज्ञा जिसको देता गया, उसने वही कार्य पूरा किया। श्रावस्ती पहुँच कर उसने ऐसे स्थान की खोज आरम्भ की जो तथागत के निवास के लिए अनुकूल हो। उसे राजकुमार जेत का उद्यान इसके लिए उपयुक्त जान पडा। वह न शहर से बहुत दूर था न अधिक समीप। जो लोग वहाँ जाना चाहते आसानी से जा सकते थे। रात्रि में यह स्थान एकान्त रहता था और ध्यान के योग्य था।

राजकुमार जेत के पास जा कर अनाथपिंडिक ने कहा, "आर्यपुत्र ! मुझे विहार बनाने के लिये अपना उद्यान दे दीजिये।" राजकुमार जेत ने उत्तर दिया, ',गृहपति ! यह तो अशर्फियो को किनारे से किनारे मिला कर देने से भी नही दिया जा सकता।" "आर्यपुत्र ! तब तो मैने यह उद्यान खरीद लिया।" चतुर व्यवसायी ने उत्तर दिया। "गृहपति ! तूने यह नही खरीदा !" राजघराने का-सा गौरव दिखाते हुए जेत राजकुमार ने कहा। मामला राज्य के न्यायाधीशो तक पहुँचा। उनका निर्णय अनाथपिंडिक के पक्ष मे ही हुआ। न्यायाधीशो का निर्णय था कि चूंकि राजकुमार ने मोल किया, इसलिए गृहपति ने इसे ले लिया। अनाथपिंडिक ने अशर्फियां किनारे से किनारा मिला कर राजकुमार जेत के उद्यान मे बिछा दी। एक बार ढोकर लाई हुई अशर्फियां १८ करोड थीं। उनसे उद्यान की प्रायः सब जगह ढॅक गई। थोडी-सी बाकी बच रही, जिसको ढॉकने के लिए अनाथपिंडिक ने अपने आदमियो को दुबारा अशर्फिया लाने को भेजा, किन्तु उसे रोकते हुए जेत राजकुमार ने कहा, "बस गृहपति ! इस वक्त खाली जगह को तू न ढांक। इसे तू मुझे दे दे, यह मेरा दान होगा।" अनाथपिडिक ने स्वीकार कर लिया। तदनुसार उस जगह पर अनाथ-पिडिक ने उद्यानभूमि मे एक विशाल विहार और सुरम्य बगीचा बनवाया और कुमार जेत के नाम पर उसका नाम 'जेतवन आराम' रक्खा। पालि त्रिपिटक मे इस आराम को सर्वत्र 'अनाथपिंडिक का जेतवना-राम' कह कर पुकारा गया है। इस आराम मे अनाथपिंडिक ने अनेक विश्राम स्थान, आँगन वाले मकान (परिवेण) कोठियॉ, सभागृह, अग्निशाला (पानी गरम करने की कोठियाँ), ध्यान के चबूतरे, स्नानागार, छोटे-छोटे तालाब और मण्डप बनवाए। १८ करोड मे जेतवन की जमीन खरीदी गई थी, १८ करोड ही विहार बनवाने मे खर्च हुए और जब बुद्धत्व प्राप्ति के चौदहवें वर्ष भगवान् इधर आए तो १८ करोड ही अनाथपिंडिक ने भण्डारे मे खर्च किए। इस प्रकार

कुल ५४ करोड जेतवनाराम पर खर्च हुए। भगवान् बुद्ध की प्रेरणा से उसने इसे बुद्ध संघ के लिये समर्पित कर दिया।

बौद्धधर्म के इतिहास मे जेतवनाराम का एक महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद २० वर्ष तक तो भगवान् बुद्ध अनेक स्थानो में वर्षावास करते रहे, किन्तु इक्कीसवे वर्ष से लेकर चवालीसवें वर्ष तक लगातार श्रावस्ती मे ही अपने वर्षावास उन्होने किये। सिर्फ अपना पैंतालीसवाँ वर्षावास (जो उनका अन्तिम वर्षावास था) उन्होंने वैशाली में अवश्य बिताया। मज्झिम-निकाय मे भगवान् के द्वारा उपदिष्ट १५० सुत्त है। उनमे से ६५ अकेले जेतवनाराम मे ही दिए गए। इसी प्रकार संयुत्त और अंगुत्तर निकायो के भी अधिकांश उपदेश जेतवन मे ही दिये गए। विनयपिटक के तो ३०० शिक्षापदो मे से २९४ श्रावस्ती मे ही प्रज्ञप्त किये गए। श्रावस्ती मे यद्यपि भगवान् का प्रधान निवास-स्थान जेतवनाराम ही था, किन्तु वही पर कुछ अन्य विहार भी थे जो बुद्ध-संघ के लिए अन्य व्यक्तियो ने बनवाये थे। जेतवनाराम के ठीक पीछे राजा प्रसेनजित् का बनवाया हुआ राजकाराम (राजा के द्वारा बनवाया हुआ आराम) था जो भिक्षुणियो के लिए था। श्रावस्ती से ही विशाखा मृगारमाता ने २९ करोड़ की लागत से पूर्वाराम नामक विहार बनवाया था जो ९ मास में बनकर तैयार हुआ था और दोमंजिला था। भगवान् ने कुल २५ वर्षावास (१४ वाँ वर्षावास और २१ वे से लेकर ४४ वे तक) श्रावस्ती में बिताये थे। उनमे से १९ वर्षावास तो केवल जेतवनाराम में बिताये थे और सिर्फ ६ पूर्वाराम मे। इसलिए जिस भावना के साथ हम लुम्बिनी (बुद्ध का जन्म-स्थान) बोध गया (बुद्धत्व प्राप्ति स्थान) सारनाथ (प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान) और कुसीनारा (बुद्ध के महापरिनिर्वाण का स्थान) को याद करते हैं, उसी भावना के साथ जेतवनाराम को भी करना चाहिए; क्योंकि यहीं तथागत सबसे अधिक काल तक ठहरे थे।

अनाथपिंडिक प्रतिदिन दो बार जेतवनाराम मे भगवान् बुद्ध के दर्शन करने के लिए जाया करता था। जब कभी जाता, अपने साथ कुछ-न-कुछ अवश्य ले जाता। जब कभी बुद्ध बाहर जाते तो उस समय के लिए उसने बोधि-वृक्ष की डाल जेतवनाराम के दरवाजे पर लगा रक्खी थी, जिसकी वह पूजा करता था। अनाथपिंडिक ने बुद्ध-संघ के लिये बहुत पैसा खर्च किया। वैसे उसका दान बौद्धमतावलम्बियो और अन्य मनुष्यो में भेद करना नहीं जानता था। जहां-जहां भी अनाथपिंडिक का व्यापार चलता था उसके आदमियो को आज्ञा थी कि जो कोई आदमी वहां आयें उन्हे भोजन खिलाया जाय। अतिथियो के अलावा १००० मनुष्य उसके घर पर प्रतिदिन भोजन करते थे। ५०० जगहें हमेशा आगन्तुको के लिए सुरक्षित रहती थी। जो कोई भी आ जाता उसका समान रूप से आदर-सत्कार होता था। अपनी दानशीलता के कारण अनाथपिंडिक के पास बाद में बिलकुल धन नहीं रहा। एक संस्कृत-कवि के शब्दो मे उसकी हालत उस स्वच्छ बादल के समान हो गई जो बरसने के बाद शुभ्र श्वेत रंग धारण कर लेता है। इस हालत मे जब भिक्षु या भगवान् बुद्ध अनाथपिंडिक के पास आते तो वह उन्हें अलोने दलिये के सिवा कुछ न दे सकता। अनाथपिंडिक पूर्णतः अकिंचन बन गया। उसके इस अपरिमित त्याग के कारण ही भगवान् ने उसे अपने दानी शिष्यों मे प्रधान कहा। एक बार अनाथपिंडिक को इस बात से बडा दुःख हुआ कि अपनी अकिंचनता की हालत मे वह भगवान् की सेवा नहीं कर पाता; किन्तु भगवान् ने उसे सान्त्वना दी और कहा कि दान की महत्ता द्रव्य से नहीं, किन्तु हृदय से होती है। अनाथपिंडिक को भगवान् के उपदेश से बडी शान्ति मिली। अनाथपिंडिक की महत्ता बुद्ध-संघ में इतनी उसके दान के कारण नहीं थी जितनी उसके मानवीय गुणो के कारण। एक बार तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने उसे हल्की चेतावनी देते हुए कहा था कि विहारों का बनवाना या भिक्षु-संघ को दान देना उतना महत्वपूर्ण नही है

जितना शुद्ध आचरण का अभ्यास, शांति का व्यवहार और अनित्यता का चिंतन। इनमे भी प्रत्येक उत्तरोत्तर का महत्त्व पूर्ववर्ती गुण से बढ़कर है।* भगवान् ने यह भी कहा था कि केवल प्रभूत दान देकर ही सन्तुष्ट होजाना ठीक नही है, वल्कि देनेवाले को यह भी सोचना चाहिये कि चित्त की शांति से उत्पन्न सुख का भी वह अपने जीवन मे अनुभव कर रहा है या नहीं ?† अनाथपिंडिक ने भगवान् बुद्ध के इस उपदेश के अनुसार हो शासन के सर्वोत्तम तत्त्व की साधना करने का प्रयत्न किया था। इसका सबसे बडा लक्षण हम उसकी नम्रता मे देखते हैं। तथागत के गौरव से तो वह इतना दबा हुआ था कि कभी उसने भगवान् बुद्ध से कोई प्रश्न पूछने तक की हिम्मत नहीं की। वह समझता था कि ऐसा करने से तथागत को कष्ट होगा; किन्तु जिस अनाथपिंडिक ने बुद्ध के नाम पर अपना सब कुछ दुःखी मानवता को भेंट कर अकिंचनता का व्रत लिया था उसे उपदेश करने के लिए भगवान् स्वयं ही प्रेरित होते थे। ऐसे कई उपदेश अंगुत्तर-निकाय मे संनिहित हैं। हां, एक बार अनाथपिंडिक ने भी भगवान् से दान के बारे मे प्रश्न पूछा था और भगवान् ने उसका उत्तर दिया। भगवान् ने अनाथपिंडिक को जो उपदेश दिए उनमे गृहस्थ-धर्म का बडा अच्छा निरूपण मिलता है। गृहस्थो के कर्तव्यों (गहसामि किच्चानि) पर तो प्रवचन अत्यन्त पठनीय है। जो यह समझते हैं कि बुद्ध ने भिक्षु और भिक्षुणियों के नियमो को छोडकर गृहस्थो के लिए तो कोई आश्वासन दिया ही नहीं, उन्हे सिगालोवाद-सुत्त के अतिरिक्त अनाथपिंडिक के प्रति प्रज्ञप्त किये हुए उपदेशो को अवश्य पढ़ना चाहिए।

---

* देखिये अगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ३९२ (पाली टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

† अंगुत्तर-निकाय जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४७-४८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

एक बार भगवान् बुद्ध जेतवनाराम से बाहर जाने वाले थे। अनाथपिंडिक ने उनसे प्रार्थना की कि भगवान् अभी बाहर न जायँ। अनाथपिंडिक को भगवान् के दर्शनों से कभी तृप्ति ही नहीं होती थी। भगवान् ने रुकना स्वीकार नहीं किया। कोशलराज प्रसेनजित् और विशाखा मृगारमाता ने भी भगवान् से बड़ी प्रार्थना की कि भगवान् अभी बाहर न जायँ। भगवान् ने उनकी प्रार्थनाओं को भी स्वीकार नहीं किया। अनाथपिंडिक की पूर्णा नामक दासी-पुत्री को यह बात मालूम पड़ी। उसने अपने स्वामी से कहा कि मैं भगवान् से प्रार्थना कर उन्हें रोक सकती हूं। अनाथपिंडिक को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह लड़की यह काम कैसे कर सकती है जब इतने बड़े माननीय पुरुषों की भी प्रार्थना तथागत ने अस्वीकार कर दी है। खैर, पूर्णा ने भगवान् से जाकर कहा—भन्ते ! मै बुद्ध धर्म और संघ की शरण मे जाने और पवित्र जीवन बिताने के लिये तैयार हूं, यदि आप अपना जाना स्थगित कर दें। पूर्णा के इस प्रस्ताव पर 'करुणा के देव' ने अपना जाना स्थगित कर दिया। पूर्णा उस दिन से अनाथपिंडिक की नौकरी से मुक्त कर दी गई, उसे अनाथपिंडिक ने उस दिन से पुत्री की तरह रक्खा और वह पवित्र जीवन में दीक्षित हुई। देवेन्द्र शक्र से लेकर कीट-पतंगों तक की समता स्थापित करने वाले तथागत के लिए यह कोई बड़ा काम नहीं था कि वे प्रसेनजित् जैसे राजा और अनाथ-पिंडिक जैसे महा सेठ से भी एक दासी-पुत्री का अधिक मान रखते और उसे उनसे पुजवाते।

अनाथपिंडिक की बीमारी का हाल बड़ा हृदय-द्रावक है। वह बहुत बीमार हो गया। उसने अपने एक आदमी को बुलाकर कहा, "मित्र ! जहां भगवान् है वहां जाओ। जाकर मेरी ओर से चरणों में वन्दना कहो, और यह भी—"भन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति बीमार है। वह भगवान् के चरणों मे शिर से वन्दना करता है।" बस, इतना ही सन्देश अनाथपिंडिक ने भगवान् के लिए भेजा। कितनी मार्मिकता है,

कितनी हृदय-स्पर्शी भक्ति है ! धर्म सेनापति सारिपुत्र के लिए भी (सारिपुत्र और आनन्द से अनाथपिंडिक की विशेष घनिष्ठता थी) उसने यह सन्देश अपने नौकर के हाथ भिजवाया—"भन्ते ! अनाथ-पिंडिक बीमार है। वह आयुष्मान् सारिपुत्र के चरणों मे शिर से वन्दना करता है। अच्छा हो भन्ते ! आप कृपा कर अनाथपिंडिक गृहपति के घर चलें।" बीमारों की सेवा करना भिक्षुओं का स्वभाव-प्राप्त धर्म था। सारिपुत्र और आनन्द भगवान् की अनुमति लेकर उधर चल दिये। जाकर पूछा, "गृहपति ! ठीक तो है ! काल यापन तो हो रहा है ? दुःख की वेदनाएँ हट तो रही है ? रोग का हटना तो मालूम हो रहा है ? उसका लौटना तो मालूम नहीं हो रहा ?"

"भन्ते ! मेरी हालत ठीक नही है। मुझे अत्यधिक जलन हो रही है।"

"तो गृहपति ! तुम अभ्यास करो—मै चक्षु का उपादान न करूँगा, मेरा चित्त चक्षु मे आसक्त न होगा। श्रोत्र मे, घ्राण मे, रूप मे, शब्द मे, रस मे, स्पर्श में···चक्षुर्विज्ञान मे, श्रोत्रविज्ञान मे··चक्षु-संस्पर्श मे, श्रोत्र-संस्पर्श मे···वेदनाओं मे, विज्ञान मे, संज्ञा मे, संस्कारो मे, मेरा चित्त आसक्त न होगा, मै उनका उपादान न करूँगा। गृहपति ! अभ्यास करो—जो कुछ भी मेरा दृष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञात, प्राप्त, पर्येषित, या काया या मन से आचरण किया हुआ है, उसका मैं उपादान न करूँगा, मेरा चित्त उसमे आसक्त न होगा।" सारिपुत्र के इस पूर्ण अनासक्तिवाद (अनात्मवाद) के उपदेश को सुनकर अनाथ-पिंडिक फूट-फूटकर रोने लगा। आनन्द को लगा कि उपासक अपने हृदय की कमजोरी दिखा रहा है। उन्होने पूछा, "गृहपति ! क्यो घबडा रहे हो ? दिल छोटा क्यो कर रहे हो ?"

"भन्ते आनन्द ! मै घबडा नहीं रहा, दिल छोटा नही कर रहा। बल्कि भन्ते ! मैने दीर्घकाल से शास्ता और भिक्षु-संघ की सेवा की; किन्तु ऐसा धर्मोपदेश मुझे सुनने को नही मिला।" इसके थोडी देर

बाद ही अनाथपिंडिक ने शरीर छोड़ दिया।

भगवान् बुद्ध का दायक! कितना ऊँचा विशेषण है। बुद्ध ने दुनिया को दिया। अनाथपिंडिक को आज हम बुद्ध का दायक कहते हैं। उपासक सुदत्त को आज हम इसलिए स्मरण नहीं करते कि वह लाखों का मालिक था, अथवा लाखों ही उसने बुद्ध और संघ के लिए खर्च किए! यह तो गौण था और फिर जिसकी आवभगत के लिए बिम्बिसार और प्रसेनजित् जैसे राजा और अनाथपिंडिक जैसे महासेठ लालायित रहते थे। वह महाश्रमण तो प्रतिदिन नियमानुसार भिक्षापात्र लेकर घर-घर से नीचा सिर किये मौन खड़ा होकर भिक्षा लाता था, कभी-कभी रीता पात्र लेकर ही लौट आता था! दिन में एक बार खाने वाला वह महाश्रमण कभी-कभी पसौभर सूखे चावल ही खाकर पानी पी लेता था और कभी-कभी उसके वस्त्र सिये जाते थे दास और दासियों के फैंके हुए कपड़ों से! ऐसे महापुरुष को किसी के दान की क्या आवश्यकता हो सकती थी? संघ का भी बन्धन या ममत्व उसके लिए नहीं था जैसा उसने अनेक बार प्रकट कर दिया। फिर किसके लिए वह दान ग्रहण करता? अनाथपिंडिक का दायकत्व वास्तव में उसी के ऋण का सूचक था, जिसे चुकाने का उसने जीवन-पर्यन्त यत्न किया। बुद्ध के नाम पर उसने दुःखी मानवता के साथ अपने-आपको आत्मसात् कर लिया, यही उसकी बुद्ध-धर्म के लिए सबसे बड़ी सेवा हुई। तथागत के मार्ग का अनुसरण कर अनाथपिंडिक ने अपने को साम्य के उस महासागर में डाल दिया जिसकी लहरों की आवाज सारे उपनिषद् और बौद्ध साहित्य में सुनाई देती है। अनाथ-पिंडिक के घर में अलोने दलिये का भी न बन सकना इस बात का सूचक है कि वह किस हद तक दुःखी मानवता के साथ तादात्म्य कर सका था। अनाथपिंडिक को आज हम उसके मानवीय गुणों के कारण ही स्मरण करते हैं, उसके दानों के कारण नहीं, यद्यपि उसके दान भी उसके हृदय की विशालता की उपज थे और उनका भी

एक महत्त्व है। अपने शास्ता के प्रति मूर्तिमयी कृतज्ञता खडी करने के लिए ही इस उपासक ने जेतवनाराम को खडा किया। यहां अपने हृदय के देवता को संघ-सहित बैठाकर और उनकी बडी तन्मयता पूर्वक सेवाकर श्रेष्ठी क हृदय को कभी नष्ट न होने वाली वह विमुक्ति-रूपी चित्त की शान्ति मिली जिसे काया का बन्धन छोड देने के बाद भी उसकी आत्मा सदा अनुभव करती रही—

इदं हि त जेतवनं इसिसंघनिसेवितं।
आयुट्ठं बुद्धसेट्ठेन पीतिसंजननं मम ॥*

---

* "अहो! मेरी आध्यात्मिक प्रसन्नता को पैदा करने वाला यही वह जेतवन (आराम) है जिसका ऋषि (बुद्ध) ने संघ के सहित सेवन किया, जहाँ स्वयं श्रेष्ठ ज्ञानी (बुद्ध) ने निवास किया" अनाथपिंडिक की आत्मा शरीर छोड़ने के बाद जेतवन को देखकर यह प्रसन्न उद्गार करती हुई दिखाई गई है। देखिये अनाथपिंडिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम ३।५।१)

: ९ :

महाप्रजापती गोतमी

"बहूनं वत अत्थाय माया जनयि गोतमं"

उपर्युक्त शब्द महाप्रजापती गोतमी के हैं। वह कहती है—"अहो! बहुतों के लिए ही माया ने गोतम को जना।" इनसे अधिक उदात्त शब्दों में किसी छोटी बहन ने अपनी बड़ी स्वर्गीया बहन को श्रद्धाञ्जलि अर्पित नहीं की। इस देश में स्त्री-जाति का गौरव मातृत्व माना गया है। पालि-साहित्य में तो स्त्री-समाज के लिए सामान्यतः 'मातृग्राम' (मातुगाम) अर्थात् 'माताओं का समुदाय' शब्द ही प्रयुक्त होता है। संसार की जितनी स्त्रियाँ हैं, माताएँ हैं, बौद्ध सङ्घ की यही मान्यता थी। गोतमी अपनी बहन के इसी मातृत्व के गौरव को स्मरण करती हुई कहती है—उसने गोतम-सा पुत्र जना, गोतम—जो अपने प्रयत्न से लोक में सम्यक् सम्बुद्ध हुआ, अन्धकार-ग्रस्त लोक के लिए जिसने ज्ञान का अक्षय दीपक जलाया, जिसका जीवन अपने लिये नहीं, बल्कि बहुतों के हित के लिए, सारी मनुष्य-जाति के हित के लिए उपयुक्त हुआ, उस गोतम को महा-माया ने जना। माता के लिए इससे अधिक गौरव की और क्या बात हो सकती है?

उपर्युक्त शब्द बड़े सार्थक हैं। एक ओर जबकि ये बुद्ध-संदेश के विश्वजनीन रूप की ओर संकेत करते हैं, दूसरी ओर वे कहने वाले की विशाल मानवता का भी परिचय देते हैं। गोतमी बहुतों में से नहीं थी। वह शुद्धोदन की पत्नी थी, अभिजात वंश की थी।

किन्तु फिर भी वह जानती थी कि वास्तविक महत्ता वही है जो बहुतो के लिए हो, सब के लिए हो। बुद्ध के जीवन मे उसने यही सबसे बडी बात देखी थी। इसीलिए उनकी माता होते हुए भी वह बाद मे उनकी शिष्या बनी। उपर्युक्त मार्मिक शब्दो मे गोतमी ने न केवल अपनी बडी बहन के प्रति अद्‌भुत श्रद्धाञ्जलि ही अर्पित की है, न केवल भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व के सबसे बडे आकर्षण को ही व्यक्त किया है, बल्कि मानवीय सहानुभूति से भरे हुए अपने सौम्यतापूर्ण स्वभाव का भी एक परिचय सदा के लिये छोडा है।

भगवान् गोतम की माता (महामाया) बच्चा जनने के सातवे दिन परलोक चल बसीं। बच्चे का पालन-पोषण उनकी छोटी बहन महा-प्रजापती गोतमी ने किया। महाप्रजापती गोतमी का जन्म देवदह* नगर मे सुप्रबुद्ध के घर मे हुआ था। सुप्रबुद्ध कोलिय गणतन्त्र के प्रधान थे। उन्होने अपनी दोनो कन्याओ का विवाह एक साथ राजा शुद्धोदन के साथ कर दिया था। जब महामाया मर गईं तो प्रजा-पती ने ही उनके बच्चे गोतम का पालन-पोषण किया। प्रजापती के अपना भी एक पुत्र था जिसका नाम था नन्द। गोतमी ने नन्द को तो दासियो को दे दिया और स्वयं बडी तन्मयता के साथ अपनी बडी बहन के पुत्र गोतम को पाला-पोसा। 'बुद्ध' के निर्माण मे इस देवी का कितना हाथ था, यह हम उस कृतज्ञता और आदर से ही जान सकते हैं जो भगवान् अपनी इस क्षीरदायिका माता के प्रति सदा रखते थे। जैसा हम अभी देखेंगे, स्त्रियो को बुद्ध के शिष्यत्व का जो सौभाग्य मिला वह इसी देवी के आचार-गौरव के कारण।

९७ वर्ष की अवस्था मे शुद्धोदन की मृत्यु हुई। उस समय

---

* लुम्बिनी वन मे जहा भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, उसी के समीप यह एक कस्बा (निगम) था।

भगवान् बुद्ध वैशाली मे थे। पति की मृत्यु के बाद प्रजापती ने संसार छोडने की इच्छा प्रकट की। इसके लिए वह भगवान् बुद्ध से अनुमति लेने का अवसर खोज रही थी। सौभाग्यवश यह अवसर भी मिला और भगवान् कपिलवस्तु आये। शाक्य और कोलिय क्षत्रियो के बीच रोहिणी नदी के जल के ऊपर झगडा चल रहा था। उसीको शान्त करने के लिये भगवान् कपिलवस्तु आए थे। झगडा शान्त होने पर भगवान् ने 'कलहविवाद-सुत्त' का उपदेश दिया। द्वेषपूर्ण आचरणवाले (दोसचरितानं) मनुष्यों को लक्ष्य कर यह उपदेश दिया गया था। उसे सुनकर एक दम ५०० शाक्य घर छोड कर प्रव्रजित हो गए। उन सबकी स्त्रियो सहित प्रजापती भी प्रव्रज्या माँगने आ गईं; परन्तु भगवान् ने उन्हें प्रव्रजित होने की अनुमति नहीं दी और वैशाली चले आये। बाद में आनन्द की कुशलता से वैशाली मे प्रव्रज्या की आज्ञा मिली।

प्रव्रजित होने के बाद ही प्रजापती गम्भीर साधना में लग गई। भगवान् से अनेक वार हम उसे मार्ग पूछते देखते हैं। कोशाम्बीवासी कलह-प्रिय भिक्षु श्रावस्ती जा रहे हैं। गोतमी पूछती है, "मै उनके साथ कैसे वरतूँ?" भगवान् उसे समझाते हैं, "गोतमी! तू दोनों ओर की बात सुन। दोनो ओर की बात सुनकर जो भिक्षु धर्मवादी हों उनकी दृष्टि तू पसन्द कर। भिक्षुणी-संघ को भिक्षु-संघ से जो कुछ अपेक्षा करना है वह सब धर्मवादी से ही करना चाहिए!" एक बार गोतमी भगवान् के पास जाकर पूछती है, "अच्छा हो भन्ते! भगवान् संक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश दें, जिससे भगवान् से सुनकर एकाकी, प्रमाद-रहित हो मै आत्मसंयम-पूर्वक विहार करूँ।" भगवान् उसे उपदेश देते हैं और गोतमी एकान्त-साधना मे लग जाती है।

एक बार गोतमी ने अपने हाथ से एक नया धुस्से का जोड़ा बनाया और भगवान् को समर्पित करते हुए कहा, "भन्ते! यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा-जोड़ा भगवान् को

अर्पण है। भगवान् इसे स्वीकार करें।" भगवान् ने उसे अपने लिये अस्वीकार करते हुए कहा, "गोतमी! इसे संघ को दे दे। संघ को देने से मैं भी पूजित हूँगा और संघ भी।" गोतमी निराश हुई। आनन्द ने फिर उसके लिये वकालत की, किन्तु शास्ता ने समझाया कि प्रजापती के ही अधिक कल्याण के लिये उन्होंने ऐसा किया है। व्यक्तिगत दान की अपेक्षा संघ को दिया हुआ दान हर हालत में अच्छा है। संघ बुद्ध से भी बड़ा है। इसी प्रसङ्ग मे उन्होंने 'दक्षिणा-विभंग-सुत्त, (मज्झिम ३।४।१२) का उपदेश भी दिया।

भगवान् प्रजापती का बड़ा आदर करते थे और उसके अति वृद्ध शरीर की सुविधा का बहुत खयाल रखते थे। एक बार प्रजापती बीमार पड़ी। संघ के नियमानुसार भिक्षु उसकी सेवा करने नहीं जा सकते थे। भगवान् इस अवस्था में स्वयं ही उसकी सेवा मे उपस्थित हुए और उसे उपदेश से सान्त्वना दी। १२० वर्ष की अवस्था मे महाप्रजापती गोतमी ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

गोतमी ने एक उदात्त भाव-पूर्ण गाथा हमारे लिये छोडी है, जिस में उसका सौमनस्य, साधनापूत अनाविल जीवन और सबसे अधिक बुद्ध के प्रति अपार कृतज्ञता और श्रद्धा-भाव स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रति-बिम्बित होते हैं। वह गाथा इस प्रकार है :

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार!
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।
सब दुःखों के कारण का मुझे पता चल गया, उनके मूल कारण वासना का भी मूलोच्छेदन कर दिया गया!
आज मैं दुःख-निरोध-गामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग मे विचरण करती हूँ।
माता, पुत्र, पिता, भाई, मातामही मैं पूर्व जन्मों मे अनेक बार बनती रही;
यथार्थ ज्ञान को न जानती हुई मैं लगातार ससार में

घूमती रही।

(फिर इस जन्म में), मैंने उन भगवान् बुद्ध के दर्शन किए, (मुझे अनुभव हुआ) यह मेरा अन्तिम शरीर है! मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मुझे फिर जन्म लेना नहीं है!

पुरुषार्थ में लीन, आत्म-संयमी, नित्य दृढ़ पराक्रम करने वाले, इन संघगत भिक्षुओं को अवलोकन करो—यह बुद्धों की वन्दना है।

अहो! बहुतों के कल्याण के लिये ही (महा-) माया ने गोतम को जना,

जिसने व्याधि और मरण से त्रस्त प्राणियों के दुःख-पुंज को काट दिया!

: १० :

पटाचारा

'मिलिन्द-प्रश्न' में राजा मिलिन्द (ग्रीक इतिहास के मिनांडर) ने भदन्त नागसेन से पूछा, "भन्ते ! प्रव्रज्या लेने का उद्देश्य क्या है ?" भदन्त नागसेन ने उत्तर दिया, "जो वेदनाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं उनको सह कर शान्त कर देना और नई वेदनाओं को उत्पन्न न होने देना, यही प्रव्रज्या का उद्देश्य है ।" पटाचारा के जीवन को, जो गहरी करुणा से भरा हुआ है, हम इन शब्दों की भूमिका के साथ ही स्मरण करेंगे ।

पटाचारा श्रावस्ती के एक धनवान् सेठ की पुत्री थी । अवस्था प्राप्त होने पर वह घर के एक नौकर के प्रेम में फँस गई । जब उसके माता-पिता उसे कुलीन वर को देने की चेष्टा कर रहे थे, यह अबोध लडकी उस नौकर के साथ भाग गई । दोनो एक छोटे-से नगले मे जाकर रहने लगे । समय पाकर पटाचारा गर्भवती हुई । पति से अनुनय-विनय की-स्वामिन् ! हम यहां अकेले रह रहे हैं । प्रसव-काल उपस्थित है । यदि आप आज्ञा दें तो मै अपने माता-पिता के घर चली जाऊँ । पति ने बहाने बनाकर टालटमोल कर दी; परन्तु पटाचारा घबराई हुई थी । एक दिन पति की अनुपस्थिति में पडौस वालों से यह कर कि मेरे स्वामी से कह देना कि वह तो पिता के घर चली गई, वह अपने कुलघर को चल दी । जब पति ने उसे आकर न देखा तो बडा दुःखी हुआ । सोचने लगा, "हाय ! मेर ही कारण इस कुल-कन्या की यह अनाथों की सी दुर्गति हुई ।" उसे ढूँढने के लिए उसी मार्ग से चल दिया । रास्ते में पटाचारा मिल गई । वहीं रास्ते में उसे

प्रसव हुआ। दोनों प्रसन्नता पूर्वक घर लौट आये।

दूसरी बार जब फिर पटाचारा गर्भवती हुई तो उसी प्रकार माता-पिता के घर चल दी। इस बार रास्ते मे बडे जोर की आँधी आई और घोर वर्षा होने लगी। पटाचारा ने पति से प्रसव के लिये कोई सुरक्षित स्थान बनाने को कहा। जैसे ही वह स्थान बनाने के लिये एक झाडी से लकडी काट रहा था, बामी में-से निकलकर एक सॉप ने उसे डस लिया। वह वही बेहोश होकर गिर पडा और तत्काल मर गया। पटाचारा किसी प्रकार आँधी और वर्षा के बीच ही अरक्षित स्थान में पडी रही और उसी रात उसे प्रसव हुआ। अपने दोनो बच्चो को हृदय से लगाये वह प्रातः अपने पति को खोजने चल दी। जब उसे अपना पति मरा मिला तो वह फूट-फूटकर रोने लगी—"हाय! मेरे ही कारण मेरे पति की मृत्यु हो गई!" विलाप करती हुई वह दोनो बच्चो के साथ अपने पिता के घर चल दी। रास्ते मे नदी पडती थी। उसे पार करने की शक्ति कहाँ थी? सोचा कि दोनो बच्चों को एक साथ लेकर तो पार करना मुश्किल है, अतः बडे बच्चे को तो इस पार रख दिया और हाल के बच्चे को छाती से लगाकर वह दूसरे किनारे को चली। वहाँ पहुँच कर उसे कपडे में लपेटकर एक झाड़ी मे रख दिया और फिर दूसरे बच्चे को लेने के लिये इस किनारे पर आई। जैसे-जैसे वह नदी को पार कर रही थी, उसकी आखे अपने छोटे बच्चे की ओर लगी हुई थीं। नदी के बीच मे आने पर उसने देखा कि एक बड़ा बाज उसे मांसपेशी समझ कर उस पर झपट रहा है और उसे ले जाने की कोशिश कर रहा है। बडी तालियाँ पीटी, चीत्कार किया, किन्तु कुछ परिणाम नहीं हुआ। हाँ, इधर रक्खे हुए बच्चे ने यह सोचा कि मेरी माँ मुझे बुला रही है। वह झट पानी मे कूद पडा और बह गया। छोटे पुत्र को बाज मार गया, बड़ा पुत्र पानी मे डूबकर मर गया। पति भी गया दोनों बच्चे भी! विलाप करती हुई पटाचारा अपने पिता के घर की ओर चल दी। रास्ते मे उसे एक आदमी मिला। पटाचारा ने पूछा, "तू कहाँ का रहने

वाला है ?" आदमी ने उत्तर दिया, "माँ, मै श्रावस्ती का रहने वाला हूँ।" इस पर पटाचारा ने अपने माता-पिता का कुशल-समाचार उससे पूछा। उसने उत्तर दिया, "आज रात सेठ, उसकी पत्नी और पुत्र, तीनो घर की छत गिर जाने से मर गये और एक ही साथ चिता मे जलाये जा रहे हैं। देख मैया ! यह धुँवा उनका ही दिखाई दे रहा है।" ये शब्द सुनते ही पटाचारा पछाड खाकर धरती पर गिर पडी। फिर उसे अपने शरीर की चेतना नहीं रही। वह पागल हो गई और इधर-उधर विक्षिप्त अवस्था में घूमने लगी। उसके मुँह से केवल यही शब्द सुने जाते थे "दोनो बेटे गये। पति भी रास्ते मे मर गया। माता पिता और भाई एक ही चिता मे जलाये जाते है।" अपने कपड़ो का भी उसे होश न था। वह नंगी ही इधर-उधर घूमती थी। यदि कोई उसे कपडे दे भी देता तो उन्हे फैंक देती थी। जन-समुदाय से अनेक प्रकार से अपमानित और बहिष्कृत होकर वह इधर-उधर घूमती थी।

शास्ता जेतवन मे धर्मोपदेश कर रहे थे। पटाचारा भी घूमती हुई उधर आ निकली। आश्रमवासियों ने कहा, "यह पागल है, इसे इधर मत आने दो" (इमिस्सा उम्मत्तिकाय इतो आगन्तुं मा देथा' ति) किन्तु भगवान् ने उन्हे रोकते हुए कहा, "इसे मत रोको, (मा तं वारयित्था' ति) मेरे पास आने दो।" जैसे ही वह भगवान् से थोडी दूर पर थी, भगवान् ने उससे कहा, "भगिनी ! अपनी चेतना को प्राप्तकर (सतिं पटिलभ भगिनी)"। बुद्धानुभाव से पटाचारा को होश आगया और शरीर पर कुछ कपडा न होने के कारण उसे लज्जा की भावना भी हुई। एक आदमी ने उसके ऊपर कपडा डाल दिया जिसे उसने पहन लिया। पाँच वार उसने भगवान् की प्रदक्षिणा की और फूट-फूटकर रोने लगी। फिर बोली "देव ! मेरी रक्षा करो। मेरे एक पुत्र को बाज खा गया, दूसरा जल मे डूबकर मर गया। रास्ते में पति की मृत्यु हो गई। माता, पिता, भाई सब एक ही चिता में जलाये गये। देव ! मेरी रक्षा करो।" भगवान् ने आश्वासन दिया, "पटाचारे !

तू चिन्ता मत कर। तू ऐसे ही व्यक्ति के समीप आ गई है जो तेरी रक्षा करने मे समर्थ है।" (पटाचारे, मा चिन्तयि तव अवस्सयो भवितुं समत्थस्सेव सन्तिकं आगतासि)। भगवान् आगे बोले, "पटाचारे! जिस प्रकार तू आज पुत्रादिको के मरण के लिये आँसू बहा रही है, उसी प्रकार इस अनादि संसार में पुत्रादिकों के मरण के लिए बहाये हुए तेरे आंसू चार महासमुद्रों के जल से भी बहुत अधिक हैं! पटाचारे! तेरे पुत्रादि तेरे शरण नहीं हो सकते। तू अपने शील का शोधन कर, जिससे तू निर्वाणगामी मार्ग को प्राप्त करेगी। पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, और न पिता, न बन्धु लोग ही। जब मृत्यु पकडती है तो जाति वाले रक्षक नहीं हो सकते।" उपदेश सुनने के बाद पटाचारा का शोक कुछ कम हुआ और उसने प्रव्रज्या की आज्ञा माँगी। भगवान् ने उसे भिक्षुणियों के पास ले जाकर प्रव्रज्या दी।

निरन्तर धर्म का श्रवण और मनन करने से पटाचारा का दुःख दूर हो गया। वह उत्साह पूर्वक जीवन को उच्चतर भूमि मे ले जाने के लिये प्रयत्नशील होने लगी। भिक्षुणियों में वह विनय की सब से बडी पंडिता मानी जाती थी। एक दिन घडे मे पानी भर कर वह पैर धो रही थी। उसने देखा कि पहले डाला हुआ पानी कुछ दूर पर जाकर सूख गया, फिर दूसरी बार डाला हुआ उससे कुछ अधिक दूर जाकर सूख गया, तीसरी बार डाला हुआ उससे भी कुछ आगे जाकर सूख गया। बस उसे समाधि का एक आलम्बन मिल गया। वह सोचने लगी—"पहली बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी प्रथम वयस् मे ही मर जाते हैं, दूसरी बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी मध्यम वयस् मे मरते हैं, तीसरी बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी अन्तिम वयस् मे मरते है। सभी अनित्य हैं"। इस प्रकार पटाचारा सोच रही थी कि उसे भान हुआ कि समन्तचक्षु (चारों ओर आँख वाले) बुद्ध उसके सामने खडे हुए कह रहे है, "पटाचारे! ठीक है, सभी प्राणी मरणधर्मा हैं।" बस पटाचारा को ज्ञान की प्राप्ति

हो गई। अपनी ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करती हुई पटाचारा कहती है :

हल से भूमि को जोतकर मनुष्य उसमें बीज बोते हैं, इस प्रकार अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हुए वे धन उपार्जन करते हैं।

तो फिर क्यों न मैं साधिका निर्वाण को प्राप्त कर पाती ?

मैं, जो कि शील से सम्पन्न हूँ, अपने शास्ता के शासन को करने वाली हूँ,

अप्रमादिनी हूँ, अचंचल और विनीत हूँ।

एक दिन पैर धोने के बाद फैंके हुए पानी को ऊँचे स्थल से नीचे की ओर जाते हुए देख,

मैंने अपने चित्त को, श्रेष्ठ जाति के घोड़े को सवारी में शिक्षित करने के समान, समाधि में लगाया।

फिर मैं दीपक लेकर विहार के कोठे के अन्दर गई।

वहाँ जाकर प्रकाश में चारपाई पर बैठ गई और दीप-शिखा पर ध्यान करने लगी।

फिर सुई लेकर दीपक की बत्ती को जैसे ही नीची करने के लिये तेल मे डुबोने लगी कि दीपक बुझ गया।

दीपक का बुझना (निर्वाण प्राप्त करना) था कि उसके साथ ही मेरी तृष्णा की लौ भी सदा के लिये बुझ गई।

मेरे चित्त का निर्वाण हो गया !

: ११ :

अम्बपाली

अम्बपाली को बौद्ध साहित्य में वही स्थान प्राप्त है जो पौराणिक साहित्य में पिंगला गणिका को या ईसाई धर्म-साधना में मेरी मेग्डिलिन को। सुना है, पिंगला हरि-नाम को स्मरण कर पाप-मुक्त हुई थी और मेग्डिलिन प्रभु यीशु के वस्त्र के छोर को स्पर्श कर। अम्बपाली ने भगवान् तथागत को अपने हाथ से भोजन परोस कर पवित्रता के दर्शन किये थे। हाँ, अपनी इन दोनो बहनों से अम्बपाली कुछ अधिक स्पष्ट जीवन-स्मृति हमारे लिये छोड गई है।

जिनके माता-पिता होते हैं, उनके माता-पिताओं का; जिनके बडे कुल होते हैं उनके बडे कुलों का, जीवन चरित-लेखक रसपूर्वक वर्णन करते हैं; पर जिनके न माता-पिता हों, न बडे कुल हो, उनके लिये तो क्या कहा जाय? कहा गया है कि अम्बपाली वैशाली के राजोद्यान में आम के पेड के नीचे पैदा हुई थी, या यों कहिए कि वहाँ पडी हुई मिली थी। माली ने करुणापूर्वक सद्यःजात शिशु को उठा लिया और अपने घर वैशाली ले आया। आम (अम्ब) के पेड की मूल (पालि) में पाई जाने के कारण लडकी का नाम 'अम्बपाली' रख दिया गया। वह जैसे-जैसे बढती गई, उसकी सौन्दर्य-ज्योति अधिकाधिक प्रकाशित होती गई, यहां तक कि अवस्था प्राप्त होते-होते वह वैशाली प्रदेश की सबसे अधिक सुन्दर स्त्री (जनपद-कल्याणी) ही मानी जाने लगी। अनाथ लडकी अपनी सौन्दर्य-सम्पत्ति से अपने लिये एक प्रभाव पैदा करने लगी। बडे-बडे लिच्छवि सरदारों ने (वैशाली लिच्छवियों का

गणतन्त्र था) उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रक्खा। आपस में प्रति-स्पर्धा भी होने लगी, यहाँ तक कि लडने की नौबत आगई। लिच्छवि क्षत्रिय बडे अभिमानी थे। फिर प्रणय और युद्ध! पर अन्तिम समय सुबुद्धि आगई। उस समय भारतीय राजनीति-मण्डल मे गणतंत्र-शासन-प्रणाली का बोलबाला था। पंचायत की गई। प्रेमी राजकुमारों का मामला था और फिर झगडे को निबटाना था। यह तय किया गया कि अम्बपाली अपने सभी चाहने वाले राजकुमारो की सामान्य पत्नी बन कर रहे। 'सब्बेसं होतु' अर्थात् सबकी होकर रहे। अभिजात वर्ग के लोगों मे उस समय भी भ्रष्टाचार था ही। स्वयं राजा बिम्बिसार अम्बपाली के संरक्षकों मे से एक था।

बडी ऋद्ध, स्फीत, समृद्धिशाली थी वैशाली नगरी! लिच्छवियों का गणतन्त्र उसमे अपनी पूरी सफलता और शक्ति देखता था। जहाँ-तहाँ मनुष्यो से आकीर्ण सडकें, धन-धान्य से पूरित घर, देवताओं की-सी लिच्छवियो की परिषदे! नगर की सजावट और निर्माण सभी एक सुन्दर और व्यवस्थित भवन-निर्माण-कला के आधार पर हुए थे। ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ उपवन और ७७७७ ही पुष्करिणियाँ उस नगर में थी। पर सबसे बडी सुन्दरता उस नगर की थी अम्बपाली! अम्बपाली परम रूपवती, नृत्य, गीत और वाद्य मे अत्यन्त निपुण थी। कहा गया है कि उससे वैशाली नगरी और भी अधिक प्रसन्न और सुशोभित दिखाई पडती थी।

अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे भगवान् बुद्ध पर्यटन करते हुए वैशाली के समीप आ निकले। उनके साथ उनके शिष्य आनन्द और कुछ अन्य भिक्षु भी थे। वैसे वैशाली में भगवान् के ठहरने का स्थान महावन का कूटाराम भी था, किन्तु इस बार तथागत ने अम्बपाली के उस आम्रवन मे ही रात बिताई, जो उसने अपने घूमने के लिये बनवाया था। अम्बपाली ने सुना—भगवान् वैशाली में आये हैं और मेरे ही आम्रवन मे विचर रहे हैं। सवारी सजाकर भगवान् के दर्शनों

के लिये चल पडी । जितनी दूर सवारी से जा सकती थी, गई । फिर उतर पडी और पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई । भगवान् का अभिवादन कर एक ओर नीचे बैठ गई । भगवान् ने उसे उपदेश दिया। उपदेश सुनने के बाद अम्बपाली ने प्रार्थना की, "भन्ते ! भिक्षु-सघ के साथ भगवान् मेरा कल का भोजन स्वीकार करें ।" समदर्शी मुनि ने मौन से स्वीकार किया ।

भगवान् के दर्शन कर लौटती हुई अम्बपाली के हर्ष की सीमा नही थी । उसने सम्यक् सम्बुद्ध को निमन्त्रित किया था ! वह उन्हे अपने हाथ से परोस कर भोजन से तृप्त करेगी। इस सौभाग्य को समझने वाली गणिका के अन्दर पवित्रता के संस्कार है, इसमें सन्देह नहीं । रास्ते मे उसे लिच्छवि-कुमार अपने रथो पर सवार होकर आते हुए मिले । वे भी भगवान् बुद्ध के आगमन को सुनकर उनके स्वागतार्थ जा रहे थे। पर आज उन्हे अम्बपाली क्या समझे ? वह लिच्छवियों के रथो के धुरों से धुरा, चक्को से चक्का, जुए से जुआ टकरा कर जा रही थी ।

"अरी अम्बपाली ! क्यो तू लिच्छवियों के धुरो से धुरा टकरा कर चलती है ?"

"आर्यपुत्रो ! क्योंकि मैंने भगवान् बुद्ध को भिक्षु-संघ के साथ कल के भोजन के लिये निमन्त्रित किया है ।"

"तो अम्बपाली ! हम तुझे सौ हजार कार्षापण देंगे । तू भगवान् को हमें भोजन से तृप्त करने दे ।"

"आर्यपुत्रो ! यदि सारा वैशाली-जनपद भी दे दो तो भी इस भोजन को न दूँगी ।"

लिच्छवि-कुमार निराश होकर आगे बढ़े । भगवान् के चरणो में जाकर अभिवादन किया और प्रार्थना की, "भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ भगवान् हमारा कल का भोजन स्वीकार करें ।" भगवान् का उत्तर था, "लिच्छवियो ! कल तो मैंने अम्बपाली गणिका का भोजन स्वीकार कर लिया है ।"

मध्याह्न के समय भगवान् भिक्षु-संघ सहित अम्बपाली के घर पहुँच गए। गणिका ने अपने हाथ से भगवान् और भिक्षु-संघ को भोजन परोसा। भोजनोपरान्त, एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गई। उपदेश के अनन्तर अम्बपाली बोली, "भन्ते! मै इस उपवन को बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को देती हूँ।" भगवान् ने मौन भाव से स्वीकार किया। भगवान् आसन से उठकर चल दिए।

बस इतने से प्रकरण का अम्बपाली के ऊपर स्थायी प्रभाव पड़ा। उसे अपनी वास्तविक कुरूपता का पता चला। अभी तक वह काम-प्रीति मे ही अनुरक्त और प्रसन्न थी। अब उसके सामने जीवन का एक नया मार्ग खुल गया। अपने पुत्र विमल कौण्डन्य (जिस वेश्या-पुत्र को तथागत का शिष्यत्व—अर्हत् कोटि का शिष्यत्व—मिल चुका था) के उपदेश से एक दिन केश कटवा कर अम्बपाली भिक्षुणी हो गई। उसने समाधि की उच्चतम अवस्था का स्पर्श किया और पूर्णता-प्राप्त भिक्षुणियों मे से वह एक हुई। अपने निरन्तर जर्जरित होते हुए शरीर में बुद्ध-वचनो की सत्यता को प्रतिफलित होते देख अम्बपाली हमारे लिये कुछ उद्गार छोड़ गई है, जो अनित्यता की भावना से भरे हुए हैं। वह कहती है:

काले, भौंरे के रंग के समान, जिनके अग्र भाग घुँघराले है, ऐसे एक समय मेरे बाल थे।
वही आज जरावस्था मे जीर्ण सन के समान है, सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
पुष्पाभरणों से गुँथा हुआ मेरा केशपाश कभी हजारा चमेली के पुष्प की सी गन्ध वहन करता था।
उसी में से आज जरावस्था में खरहे के रोओं की-सी दुर्गन्ध आती है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
कंघी और चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त केश-

पाश कभी सुन्दर रोपे हुये सघन उपवन के सदृश शोभा पाता था।

वही आज जराग्रस्त होकर जहाँ-तहाँ से बाल टूटने के कारण विरल हो गया है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सोने के गहनों से सुसज्जित, महकती हुई सुगन्धियों से सुशोभित, चोटियों से गुँथा हुआ कभी मेरा सिर रहा करता था।

वही आज जरावस्था में भग्न और नीचे लटका हुआ है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

चित्रकार के हाथ से कुशलतापूर्वक अङ्कित की हुई जैसे मेरी दो भौंहे थीं।

वही आज जरा के कारण झुर्रियाँ पड़ कर नीचे लटकी हुई हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

गहरे नीले रंग की दो उज्ज्वल, सुन्दर, मणियों के समान मेरे दो विस्तृत नेत्र थे।

वही आज बुढ़ापे से अभिहत हुए भद्दे और आभाहीन हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नही होते!

उठते हुए यौवन की सुन्दर शिखर के समान वह मेरी कोमल, सुदीर्घ नासिका थी।

वही आज जरावस्था मे दबकर पिचकी हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

पूरी कारीगरी के साथ बनाए हुए, सुगठित कंकण के समान, कभी मेरे कानों के सिरे थे।

वही आज जरावस्था में झुर्री पड़कर नीचे लटके हुए हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कदली-पुष्प की कली के समान रंगवाले कभी मेरे सुन्दर दाँत थे।

वही आज जरावस्था में खंडित होकर जौ के समान पीले रंग वाले हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

वनचारिणी कोकिला की मधुर कूक के समान एक समय मेरी प्यारी मीठी बोली थी।

वही आज जरा के कारण स्खलित और भर्राई हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

अच्छी प्रकार खराद पर रक्खे हुए, चिकने शंख के समान, एक समय मेरी सुन्दर ग्रीवा थी।

वही आज जरावस्था मे टूटकर नीचे लटकी हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुगोल गदा के समान एक समय मेरी दोनों सुन्दर बांहें थीं।

वही आज जरावस्था में पाडर वृक्ष की दुर्बल शाखाओं के समान हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुन्दर मुँदरी और स्वर्णालङ्कारों से विभूषित कभी मेरे हाथ रहते थे।

वही आज जरा के कारण गाँठ-गठीले हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

स्थूल, सुगोल, उन्नत, कभी मेरे स्तन सुशोभित होते थे।

वही आज जरावस्था मे पानी से रीती लटकी हुई चमड़े की थैली के सदृश है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुन्दर, विशुद्ध, स्वर्ण-फलक के समान कभी मेरा शरीर चमकता था।

वही आज जरावस्था मे झुर्रियों से भरा हुआ है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

हाथी की सूँड़ के समान कभी मेरे सुन्दर उरु-प्रदेश थे।
वही आज पोले बाँस की नली के समान हो गये हैं—सत्य-
वादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
सुन्दर नूपुर और स्वर्णालङ्कारों से सजी हुई कभी मेरी
जंघाएँ रहती थीं।
वही आज जरावस्था मे तिल के सूखे डठल के समान हो
गई हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं
होते।
सुन्दर, सुकोमल रुई के फाहे के समान कभी मेरे दोनों पैर थे।
वही आज जरावस्था में झुर्रियाँ पड़कर सूखे (काठ) से हो
गये हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं
होते।
एक समय यह शरीर ऐसा था। इस समय वह जर्जर और
बहुत दुःखों का घर है।
जीर्ण घर जैसे विना लिपाई-पुताई के गिर जाता है, उसी
प्रकार यह जरा का घर (शरीर) विना थोड़ी सी रखवाली
किये गिर जायगा—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी
मिथ्या नहीं होते।

: १२ :

खुज्जुत्तरा

खुज्जुत्तरा एक दासी थी। कौशाम्बी-नरेश उदयन की रानी श्यामावती (सामावती) की सेवा मे वह नियुक्त थी। उसका वास्तविक नाम था उत्तरा; किन्तु शरीर से कुबडी होने के कारण वह 'खुज्जुत्तरा' (कुब्जा उत्तरा) पुकारी जाती थी । खुज्जुत्तरा का काम यह था कि वह प्रतिदिन रानी के लिये आठ कार्षापण* के मूल्य के फूल बाजार से लाती थी । उसमे से वह प्रतिदिन चार कार्षापण बचाकर सिर्फ चार के ही फूल लाकर देती थी। इस तरह वह चोरी करती थी।

एक दिन आठ कार्षापण लेकर वह बाजार मे फूल लेने गई। रास्ते मे उसने देखा कि एक क्षीणकाय, किन्तु अद्‌भुत तेज से वेष्टित, काषाय वस्त्रधारी श्रमण, शान्त बैठी हुई परिषद् को धर्मोपदेश कर रहा है । खुज्जुत्तरा भी कुतूहलवश खड़ी हो गई और सुनने लगी । श्रमण उदान्त स्वर मे कह रहा था, "गृहपतियो ! क्या है सम्यक् दृष्टि ? गृहपतियो ! जिस समय मनुष्य दुराचरण को पहचान लेता है, उसके मूल कारण को पहचान लेता है, इसी प्रकार जब वह सदाचरण को पहचान लेता है, उसके मूल कारण को पहचान लेता है, उस समय उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है ।" संन्यासी मानो वचन ही नही बोल रहा था, वह आत्म-पर्यवेक्षण के लिये अपने श्रोताओं को प्रेरित ही कर रहा था । खुज्जुत्तरा भी अभिभूत हुए बिना नहीं रही । सोचते-विचारते आगे बढी ।

---

* काहापण, उस समय का एक सिक्का ।

उस दिन खुज्जुत्तरा की उँगलियों ने फूलों के दूकानदार को पूरे आठ कार्षापण ही दिए। ढेर से फूल लेकर प्रसन्नचित्त हो स्वामिनी के पास आई। अब तो प्रतिदिन खुज्जुत्तरा आठ कार्षापण के ही फूल लाती। जब कभी उसे अवसर मिलता, अपने शास्ता के उपदेशों को सुनने के लिये भी अवश्य जाती। धर्म-श्रद्धा धीरे-धीरे बढ़ने लगी, साथ ही विचारात्मक शक्ति और आचार के गौरव की भावना भी। जब कुछ दिन अधिक फूल लाते बीत गए तो श्यामावती से एक दिन बिना पूछे न रहा गया, "उत्तरा ! तू पहले भी आठ कार्षापण के फूल लाती थी और अब भी आठ कार्षापण के ही लाती है। पर पहले से अब बहुत अधिक फूल आ रहे हैं। इसका कारण क्या है ? सच-सच बता।" उत्तरा ने न केवल सब बात ठीक-ठीक बता दी, अपितु अपने पूर्व अपराध को स्वीकार करते हुए उसके लिये क्षमा भी माँगी। रानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी दासी के अन्दर इतना आचार-गौरव ! एक श्रमण के वचनों का उसके जीवन पर इतना प्रभाव ! रानी ने कहा, "खुज्जुत्तरा ! जो तूने अपने शास्ता के मुख से धर्म सुना है, उसे मुझे भी सुना।" खुज्जुत्तरा ने रानी के समक्ष उस धर्म को दुहराया। अन्य सब दासियों ने भी सुना। रानी ने इसके लिये खुज्जुत्तरा का बड़ा उपकार माना। उसने उसे अपनी माता के स्थान पर बिठाया। उसके वचनों और व्यक्तित्व मे उसका गहरा विश्वास हो गया। अब खुज्जुत्तरा राज-माता हो गई। प्रतिदिन वह भगवान् बुद्ध के उपदेश को सुनने जाती और उसे रानी और उसकी सेविकाओं के सामने दुहराती। श्यामावती की श्रद्धा भी भगवान् बुद्ध में बढ़ने लगी। उसने अपने महल की दीवार में एक छेद करवा लिया, जिसमें होकर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन करती जब वे उधर से गुजरते। इस सब का श्रेय वह खुज्जुत्तरा को ही देती। धीरे-धीरे खुज्जुत्तरा ने भी उपदेश सुनते-सुनते अधिकांश बुद्ध वचनों को कंठस्थ कर लिया, पर वह पूरे रास्ते तक नहीं जा सकी। खुज्जुत्तरा भिक्षुणी नहीं हुई। घर का कामकाज

करते रहते ही श्रमिका खुज्जुत्तरा ने बुद्ध-शासन को पूरा किया।

खुज्जुत्तरा को धर्म पुस्तको या चैत्यो से नही मिला था। वह प्रत्यक्ष जीवन से मिला था और सीधे जीवन में ही गया था। जिस क्षण उसे धर्म का साक्षात्कार हुआ, उसी क्षण उसका आचरण भी शुरू हुआ। उसका ज्ञान न केवल 'जानना' था, किन्तु जीवन मे उसका साक्षात्कार भी कर लिया गया था। खुज्जुत्तरा ज्ञान का जीवन मे दर्शन करने-वाली प्रथम कोटि की साधिका थी। उस सर्वथा निम्न श्रेणी-वाली, समाज के उपेक्षित वर्ग की प्रतिनिधि-स्वरूपा, खुज्जुत्तरा का भाग्य उस दिन विश्व इतिहास मे चमक उठा जब उसे, उसकी मात्र सदाचार-वृत्ति के लिये अमर बनाते हुए, लोक-गुरु ने एक दिन अपनी शिष्य-शिष्याओं की भरी सभा में, जिसमें अनेक ज्ञान-सम्पन्न साधक और साधिकाएँ उपस्थित थे, अपने स्वर को ऊँचा करते हुए घोषित किया, "भिक्षुओ! मेरी बहुश्रुता उपासिका शिष्याओ मे यह खुज्जुत्तरा ही सर्वश्रेष्ठ है।" गहन-से-गहन दार्शनिक या वैज्ञानिक चिन्तन करना सरल है, किन्तु जीविका को सुधारना कठिन है। समाज मे जिसकी जैसी स्थिति है, वैसी ही उसकी चोरी भी है। व्यापक चोरी अनेक प्रच्छन्न रूपो मे हमारे सामने आती है। बिना सूक्ष्म प्रत्यवेक्षण और कठिन प्रयत्नों के उसके मोहक जालों से बचना सम्भव नहीं। खुज्जुत्तरा की ओर आज हमारी श्रद्धा इसीलिये सबसे अधिक जाती है कि उसका धर्म का अभ्यास बहुत ठीक जगह से आरम्भ हुआ। बुद्ध-शासन की विश्व-जीवन को मूल देन भी यही है। लोक-जीवन पर श्रमण गोतम के इसी दीर्घ शासन को देखकर लोगो ने कहा—"यह भगवान् देव और मनुष्यों के शास्ता हैं, मनुष्यों को 'यमी बनाने मे अद्वितीय सारथी-स्वरूप हैं।"